GL H 891.405
BHA

126506
LBSNAA

श्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी
Academy of Administration
मसूरी
MUSSOORIE
पुस्तकालय
LIBRARY

अवाप्ति संख्या
Accession No. 20311

वर्ग संख्या
Class No. 891.405

पुस्तक संख्या
Book No. भारती

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ का मुखपत्र)

अक्तूबर १९५८

[वर्ष ३ : अंक ४]

सम्पादक

डा० विश्वनाथ प्रसाद

संचालक

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ

आगरा विश्वविद्यालय आगरा ।

प्रकाशक
संचालक
क० मुं० हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा ।

वार्षिक शुल्क १२)

भारतीय साहित्य
वर्ष ३, अंक ३,

मुद्रक
एच० के० कपूर
आगरा यूनिवर्सिटी प्रेस
आगरा

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ संख्या

१ व्युत्पत्ति-शास्त्र और ऐतिहासिक व्याकरण ... १
डॉ सुमित्र मंगेश कत्रे एम० ए० पी० एच० डी०
संचालक और सम्पादक संस्कृत कोष दक्खन कॉलेज पूना

२ डिंगल गद्य-साहित्य की प्रस्तावना ... १३
श्री राधेश्याम त्रिपाठी एम० ए०
प्राध्यापक हिन्दी विभाग, गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज, अजमेर

३ मथुरा जिले का बोली-भूगोल ... २३
श्री चन्द्रभान रावत एम० ए०
प्राध्यापक, किशोरी रमण डिग्री कॉलेज, मथुरा

४ द्राविड़ भाषा शास्त्र की भूमिका ... ३३
श्री जे० पार्थसारथि एम० ए०
प्रध्यापक क० मुं० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय

५ द्राविड़ भाषाओं के देशीय शब्द ... ५६
श्री वि० वि० आर० शर्मा एम० ए०
प्राध्यापक क० मुं० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय

६ नाम माला-साहित्य ... ६५
सत्यवती महेन्द्र एम० ए०
अनुसंधित्सु, क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय

७ जगद्देव, एक अध्ययन ... ८६
डॉ० सत्येंद्र एम० ए० पी० एच० डी०, डी० लिट०
प्राध्यापक क० मुं० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय

टिप्पणी १
आगरा नगर की बोलियों का स्वरूपाश्रित सर्वेक्षण ... १३५
मोहनलाल शर्मा एम० ए०
अनुसंधित्सु, क० मुं० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय

२ पद्य-कहानी कामावती-कथा ... १४५
श्री शान्ति ओंकड़ियाकर,
मच्छू वाड़ी मोरबी-सौराष्ट्र

३ श्री रंग जी के मन्दिर के हस्तलिखित ग्रन्थ १६५

श्री चन्द्रभान रावत, एम० ए०

४ साहित्य की परिभाषा की तुलनात्मक समीक्षा १७५

श्री केशव ग्राम्यंकर बी० लिट०

क० मुं० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ ग्रागरा विश्वविद्यालय

५ कृष्ण भक्त कवि केवल राम जी की 'ज्ञान दीपक' कृति

श्री रमेशचन्द्र जैन एम० ए० एम० लिट०

अनुसंधान सहायक, क० मुं० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय

डॉ० सुमित्र मंगेश कत्रे

व्युत्पत्ति-शास्त्र और ऐतिहासिक व्याकरण*

मैंने अपने आज के संभाषण का विषय 'व्युत्पत्ति-शास्त्र एवं ऐतिहासिक व्याकरण' दो विशेष कारणों से लिया है। इधर तुलनात्मक व्युत्पत्ति-शास्त्र के अध्ययन-कार्य का बहुलांश—चाहे वह भारत में प्रकाशित हुआ हो, चाहे अन्यत्र—भाषाविज्ञान के सिद्धान्त और तुलनात्मक ध्वनि-प्रक्रिया के सुनिश्चित प्रतिमानों के प्रयोगों में संगति के अभाव को प्रकट कर रहा है। हमारे देश में व्युत्पत्ति करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक रही है तथा इस दिशा में अवैज्ञानिक ढंग का कार्य भी बहुत हुआ है और हमें बहुत खेद है कि यह स्वतन्त्र रूप में अथवा शब्द कोशों के अंश-रूप में प्रकाशित भी होता रहा है। दूसरी ओर, हम अगले कुछ वर्षों के अन्दर सर राल्फ़ टर्नर तथा प्रोफ़ेसर एमेनो और बरो जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त विद्वानों द्वारा प्रणीत क्रमशः भारत-आर्य तथा द्रविड़ भाषा-परिवार के तुलनात्मक व्युत्पत्ति कोश के प्रकाशन की आशा कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में तथा उपर्युक्त विशेष परिस्थिति में व्युत्पत्ति-शास्त्र के विषय और उसके सिद्धान्तों की ओर, जो कि तत्सम्बन्धी कार्य-प्रणाली के पग-पग में बरते जाने चाहिए, हमारा समयानुकूल ध्यान जाना चाहिए।

व्युत्पत्ति-शास्त्र और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र का पर्यालोचन करने से पूर्व मैं सामान्य भाषाविज्ञान के कुछ सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना चाहता हूँ जो कि तुलनात्मक व्याकरण या तुलनात्मक भाषाविज्ञान की आधार-शिला बन सकेंगे।

भाषा की परिभाषा यादृच्छिक पूर्व-संकेतित मौखिक ध्वनि-चिह्नों की ऐसी व्यवस्था के रूप में की जा सकती है, जिसके माध्यम से मानव विचारों का आदान-प्रदान तथा परस्पर सहयोग करते हैं। मनुष्यों के समूह, जो स्वतन्त्रतापूर्वक पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान तथा परस्पर सहयोग करते हैं। मनुष्यों का समूह, जो स्वतन्त्रतापूर्वक पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान तथा परस्पर सहयोग करता है, वह उस भाषा-भाषी संघ के विस्तार-क्षेत्र को निश्चित करता है। यद्यपि किसी भाषा-भाषी समूह या

---

*२४ अगस्त १९५८ को विद्यापीठ द्वारा आयोजित प्रसार व्याख्यानमाला के अन्तर्गत विशिष्ट व्याख्यान

भाषा-भाषी समुदाय के दो प्रवक्ता एक समान नहीं बोलते, तथापि उनकी भाषा में एक निश्चित स्तर की समानता अवश्य रहती है जो कि उस भाषा के वैशिष्ट्यपूर्ण लक्षणों का निर्देश करती है और समस्त भाषा-भाषी समुदाय की सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक बनती है।

वह रीति, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी मातृभाषा बोलता है, उस व्यक्ति की 'निजी-बोली' कही जा सकती है। फलस्वरूप किसी भाषा-भाषी समुदाय में जितने व्यक्ति होंगे, उतनी ही 'निजी बोलियाँ' वहाँ मिलेंगी; परन्तु उन सबकी भिन्नता में भी एक सामान्य आदर्श मिलेगा, जो कि एक सामान्य-पद्धति के रूप में समस्त समुदाय को स्वीकृत होगा।

भाषा वस्तुतः मानव-व्यवहारों की जटिल पद्धति है और परिणामतः वह विविध उप-पद्धतियों से बनी हुई देखी जा सकती है। समग्र रूप से भाषा की यह संयुक्त-पद्धति पाँच मुख्य उप-पद्धतियों में विभाजित की जा सकती है :—

(क) व्याकरणिक पद्धति

जो क्रमबद्ध सुव्यवस्थित पद-रूपांशों में एवं वे जिस क्रम में मिलते हैं, उसमें उच्चार धारा का विश्लेषण करती है।

(ख) ध्वनि-प्रक्रिया की पद्धति

जो क्रमबद्ध सुव्यवस्थित स्वनिमों एवं वे जिस क्रम में मिलते हैं, उसमें उच्चारधारा का विश्लेषण करती है।

(ग) पदरूपांश स्वनिमात्मक पद्धति

जो व्याकरणिक एवं ध्वनि-प्रक्रिया की उप-पद्धतियों को एक सूत्र में जोड़ने वाली संहिता से सम्बन्ध रखती है।

ये तीनों उप-पद्धतियाँ, जिनको भाषा की केन्द्रीय उप-पद्धति कहते हैं, उनका निर्माण करती हैं; जबकि इनके प्रतिपक्ष में अन्य दो उप-पद्धतियाँ, जिनका नीचे विवेचन किया जायेगा, भाषा की सीमान्त उप-पद्धतियों का निर्माण करेंगी।

(घ) अर्थ-विज्ञान-पद्धति

जो विविध पद-समूह, संयुक्त पद-समूह, विशिष्ट क्रम से समाविष्ट पदों की रचना, वस्तुओं, परिस्थितियों तथा वस्तुओं और परिस्थितियों के प्रकार से सम्बन्ध रखती है।

(ङ) ध्वनि-विज्ञान-पद्धति

जो भाषण करने वाले के उच्चारण से ध्वनि-लहरियों में परिवर्तित संस्वनों के अनुक्रम पर तथा श्रोता के भाषा-संकेत से समझने की रीति पर विचार करती है।

अतएव यह कहा जा सकता है कि इनमें से किसी एक या सभी उप-पद्धतियों का अध्ययन और वर्णन किया जा सकता है। हम इस कार्य को दो स्तरों पर कर सकते हैं।

यदि हमारा वर्णन भाषा-भाषी समुदाय के किसी एक व्यक्ति की भाषण—रीति पर आधारित है तो, वह व्यक्तिगत बोली (idiolect) का विश्लेषण है; परन्तु यदि एक से अधिक व्यक्तियों से सूचना ली गई है तो, हम अनेक व्यक्तिगत बोलियों का वर्णन करते हैं; जो कि (१) किसी एक बोली, या (२) बोलियों के समूह, या (३) किसी अकेली भाषा का संविधान करती हैं। भाषा और बोली का अन्तर मात्रा का है, प्रकार का नहीं। उपरिवर्णित यह सब व्यक्तिगत बोली, बोली या भाषा का एक निश्चित समय पर विश्लेषण है और इसे हम उस भाषा के विशिष्ट रूप का समकालिक वर्णन कह सकते हैं। दूसरी ओर, चूंकि भाषा लेखबद्ध की जा सकती है और भाषणों के लिखित आलेखनों से उसके इतिहास का अध्ययन किया जा सकता है, हम इतिहास के उस अध्ययन का प्रयास कर सकते हैं, जिस पूर्ण अवधि में वे भाषण लेखबद्ध होते रहे हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण भाषाओं के लिए तो यह इतिहास कई पीढ़ियों से अधिक काल का है और विभिन्न कालों के भाषणों का यह अध्ययन किसी भाषा का कालक्रमिक वर्णन कहा जा सकता है। ऐतिहासिक व्याकरण इस प्रकार कालक्रमिक स्तर पर भाषा का अध्ययन माना जाता है।

एक भाषा, जिस क्षेत्र में वह बोली जाती है, उसमें या तो एकरूपता लिये रहती है, अथवा स्वयं कुछ बोलियों के समूह के रूप में विभक्त हो जाती है। बोलियों में से प्रत्येक का एक केन्द्रबिन्दु होता है और एक क्षेत्र होता है, जहाँ उसका प्रयोग होता है। भाषा या बोली के नमूनों के अतिरिक्त हम व्यक्तिगत बोली की गणना इस उद्देश्य के लिये नहीं करते। एक बोली स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकसित हो सकती है। दूसरे शब्दों में भाषाविज्ञान के समीप ऐसे साधन नहीं हैं, जिनके द्वारा वह पूर्वसूचना दे सके कि यह बोली इस प्रकार विकसित होने में समर्थ है अथवा नहीं। भाषाविज्ञान केवल पीछे देख सकता है और सगोत्रीय बोलियों और भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध को प्रकट करता हुआ उन भाषावैज्ञानेतर कारणों पर प्रकाश डाल सकता है, जिन्होंने बोलियों को अलग किया और उन्हें स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकसित होने का अवसर प्रदान किया। भाषा का समस्त क्षेत्र के भीतर सामान्य रूप मे गृहीत स्वरूप-आदर्श उस भाषा का रूप कहा जाता है; तथा उस भाषा की विशिष्ट बोलियाँ उस समय समस्त क्षेत्र के भीतर उपादर्श-भाषा के रूप में कार्य करेंगी, यद्यपि अपने-अपने प्रदेशों के भीतर वे बोलियाँ आदर्श रूप में मान्य होंगी।

जब हम किसी भाषा का कालक्रमिक स्तर पर विवेचन करते हैं और जब हमारी सूचनाएँ या साक्ष्य हमारे अभिलेख—रूप होती हैं, तब हम व्यक्तिगत बोली के भ्रममूलक तथ्यों का विचार नहीं करते। हम इन अभिलेखों की भाषा को ही आदर्श रूप मान लेते हैं और क्योंकि भाषा एक रचना या पद्धति है, इसलिए कोई परिवर्तन, जो कि उप-पद्धतियों में उत्पन्न होता है, वह समान परिस्थितियों में समस्त क्षेत्र में, जहाँ अभिलेखों में वास्तविक उच्चारण प्रतिबिम्बित होता है, पाया जाता है। यह कल्पना किसी भी भाषा के कालक्रमिक वर्णन के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

भाषा सूचना देने के लिये प्रेषणीयता-पद्धति का एक अंग है। जब हम किसी

भाषा का कालक्रमिक स्तर पर अध्ययन करते हैं तो, हमें सामान्य रूप से विद्युत और वाष्प-इंजिन के आविष्कार के पूर्व के युग तक पहुँचना पड़ता है और फलस्वरूप तब भाषा-भाषी-समुदाय आज की अपेक्षा विलग रहे थे क्योंकि मुद्रण के आविष्कार के पूर्व लिखत आलेखन विभिन्न ज्ञान के केन्द्रों में से परिश्रमसाध्य हस्तलिखित प्रतिलिपियों के द्वारा भेजे जाते थे। उस समय अधिकांशतः लेखन-प्रणालियाँ न तो पूर्वतः स्वनिमात्मक थीं और न ध्वन्यात्मक। इन आलेखनों को प्रयोग में लाने की इच्छा रखने वाले भाषा-शास्त्रियों द्वारा इन सभी घटकों का ध्यान रखना चाहिए। अतएव हम यह कल्पना कर सकते हैं कि आलेखनों के इस प्रकार प्रयोग के पश्चात् हमारे सम्मुख अपने प्रचार-क्षेत्र में प्रयुक्त, अध्ययन की गई भाषा का एक कालक्रमिक चित्र प्रस्तुत होगा जो कि स्थान एवं काल के दो महत्त्वपूर्ण मापदण्डों पर विस्तृत भाषा-समुदाय के प्रयोगों को विश्वस्त रूप से प्रतिबिम्बित करेगा। तुलनात्मक विलगता से हमें यह भी विश्वास हो जाता है कि विशिष्ट प्रादेशिक अथवा स्थानिक रूप या तो (अ) वंशानुगात लक्षणों के संरक्षित रूप हैं अथवा (ब) भाषा के सामान्य विकास में प्राप्त नये रूप हैं।

मैंने ऊपर भाषाविज्ञान की आधुनिक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है, किन्तु साथ-साथ आपको यह भी सूचित करना चाहता हूँ कि उनमें निहित विचारों से हमारे पूर्वज भली प्रकार परिचित थे। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के तीन बड़े स्तम्भ पाणिनि, कात्यायन अथवा वार्तिककार और पतंजलि ने सामान्य रूप से भाषा के कालक्रमिक विवरण के लिये तीन नियामक उपलक्षित किये हैं। आपमें से पन्तजलि के महाभाष्य के नवाह्निक से परिचितों को प्रथम वार्तिक ध्यान में आजाएगा —"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे लोकतोऽर्थ प्रयुक्ते शब्द प्रयोगे शास्त्रेण धर्म नियमः।" आज की संभाषण शैली में इसका तात्पर्य होगा कि उच्चार और उसके अर्थ का सम्बन्ध परम्परा से (लोकतः) निर्णीत होता है। अतएव भाषा-विज्ञान का उद्देश्य वास्तविक उच्चार—प्रयोगों में यथार्थ परम्परा (रूढ़ियों का वर्णन करना है। इस प्रकार हम वर्णनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में अपना प्रथम नियामक(Coordinate) लोक लेते हैं जो कि भाषा के समान वक्ताओं की अविच्छेद परम्परा का प्रतीक है। इस प्रकार एक भाषा-शास्त्री अथवावैयाकरण को 'प्रयोग शरणं' कहा जाता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि वर्णनात्मक विश्लेषण प्रचलित प्रयोग पर अवश्य आधारित होना चाहिये। अगर प्रयोग प्रचलित नहीं है तो हमारे सम्मुख दो विकल्प होते हैं—(अ) 'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्'—अर्थात् प्रयोग अप्रचलित (पुराने ढँग के) माने जा सकते हैं, जो कभी प्राचीन काल में प्रचलित थे, जैसे प्राचीन ऋषियों के समय में सैंकड़ों वर्षों तक चलने वाले यज्ञ, और जो प्राचीन प्रयोगों के कारण हैं। इससे हमें अपने द्वितीय नियामक उपपत्तियुक्त 'काल' की प्राप्ति हो जाती है—(आ) 'सर्वे देशान्तरे'--अर्थात् वे प्रयोग जो किसी दूसरे प्रदेश में प्रचलित हो सकते है, परन्तु यहां नहीं। यहाँ हमें अपने तीसरे नियामक स्थान अथवा प्रदेश या क्षेत्र का आभास हो जाता है। कोई भी भाषा इस प्रकार तीन नियामकों द्वारा वर्णित की जा सकती है। लोक अथवा भाषा-भाषी-समुदाय, भाषा की परिभाषा एक ऐसी पद्धति के लिये करता है, जिसके द्वारा किसी समुदाय के व्यक्ति परस्पर विचार-विनिमय तथा सहयोग स्थापित करते हैं। स्थान अथवा

क्षेत्र उस समुदाय के क्षेत्रीय अथवा भौगोलिक विभाजन की परिभाषा देता है और प्रयोग का क्षेत्र निश्चित करता है जिसमें किसी भाषा के आदर्श रूप तथा बोलीगत वैविध्य दोनों ही आ जाते हैं। काल उस कालक्रमिक मापदण्ड की परिभाषा करता है जिसमें किसी भाषा या भाषण अध्ययन तथा वर्णन किया जाये। इससे यह अर्थ निकलता है कि किसी भाषा का ऐतिहासिक वर्णन करने के लिए; जिसके चिह्न बिन्दु रेखा आलेखनों अथवा लिखने की किसी प्रणाली के रूप में उपलब्ध हैं, काल और स्थान के ये दो नियामक अत्यधिक महत्त्व के हैं।

जब हम दो इतिहास-साक्ष्य विभिन्न भाषाओं की तुलना करते हैं और अर्थ विज्ञान सम्बन्धी समानता के साथ उनके ध्वनि प्रक्रियात्मक और पद-वैज्ञानिक गठन-गत सम्बन्धों के परस्पर एकैक सम्बन्ध को देखते हैं तो, हम यह अनुमान लगा लेते है कि वे दोनों वंशनुगत रूप से सम्बन्धित हैं। सिद्ध किए हुए सम्बन्धों के आधार पर हम उनके पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट कर सकते हैं। यदि उन दोनों में ऐसे स्वतन्त्र लक्षण अथवा विकास प्राप्त होते हैं कि एक न तो ध्वनि-प्रक्रिया के स्तर पर और न पद-रचना के स्तर पर ही दूसरी से निकली है, तब हम यह मान लेते हैं कि वे दोनों ही उनसे और पूर्व के किसी सामान्य स्रोत से उपलब्ध हुई होंगी, जिसका उल्लेख आलेखनों में मिल भी सकता है और नहीं भी। परस्पर एकैक सम्बन्ध दिखाती हुई स्वतन्त्र भाषाओं की संख्या जितनी ही अधिक होगी, उनके सामान्य स्रोत की प्रकृति के विषय में, जिनसे वे विशिष्ट रूप से निसृत हुई हैं, हम उतने ही अधिक स्पष्ट होंगे। प्रत्येक भाषा के रूपों के काल के प्रमाणीकरण के विषय में यह भी संभव हो जाता है कि वे समकालिक किसी एक ही काल के न हों, अर्थात् कालक्रमिक रूप से वे भिन्न-भिन्न समयों के हों। फिर भी, क्योंकि भाषा एक पद्धति अथवा गठन है, अत: किसी काल की एक पद्धति को किसी दूसरे काल की दूसरी पद्धति से तुलना की जा सकती है और इस प्रकार हमें किसी सामान्य स्रोत अथवा पूर्वज रूप के लक्षणों का एक अच्छा पुनर्गठित रूप प्राप्त हो जाता है, यदि हम किसी एक पद्धति के कालों के क्रम को मिला न दें।

इस प्रकार ऐतिहासिक व्याकरण को कालक्रमिक मापदण्ड में किसी भाषा के स्वरूपों का वर्णनात्मक और तुलनात्मक विश्लेषण कहा जा सकता है। जब हम सजातीय भाषाओं के समान वक्तव्यों की तुलना करते हैं तो, हम उससे सम्बन्धित भाषा-परिवार के स्थान-काल-विषयक विकास के अनुकूल तुलनात्मक और ऐतिहासिक व्याकरण का निर्माण कर सकते हैं। कभी-कभी यह भी होता है कि भाषा-परिवार की पद्धतियाँ परस्पर ही एक विशाल परिवार बना लेती हैं। इस प्रकार भारत-आर्य परिवार भारत-ईरानी परिवार की एक उपशाखा है और भारत-ईरानी परिवार स्वयं एक बड़े भारतयोरोपीय भाषा-परिवार का सदस्य है। जिस प्रकार पाठों की आलोचना में, विरले उदाहरणों को छोड़कर, यह आवश्यक नहीं की विभिन्न उप-परिवारों में वंश-परम्परा में निम्न स्थित स्वतन्त्र सदस्यों के मध्यम तुलना की जाय, जब तक कि दोनों में ही बिना स्पष्ट भौतिक सम्बन्ध के कोई सामान्य नवीनीकरण न हुआ हो। इससे यह अर्थ निकलता है कि आज की फ्रेंच अथवा जर्मन रूपों की तुलना सजातीय हिन्दी अथवा बंगाली रूपों

से करने की आवश्यकता नहीं है, सिवाय उन रूपों के जिनके लैटिन अथवा सामान्य जर्मनिक अथवा प्राचीन भारत-आर्य रूप लुप्त हो गये हों। सामान्य स्रोत के किसी एक उचित पुनर्गठन पर पहुँचने के लिए रूप-सम्बन्धों की स्थापना यथासंभव वंशानुक्रमिक समान स्तरों पर ही करनी चाहिए। उदाहरण के लिए उस आदिम भारोपीय भाषा-परिवार से सीधा वंशानुक्रम जोड़ते हुए पालि का ऐतिहासिक व्याकरण लिखना समय नष्ट करना है, जब कि प्राचीन भारत-आर्य परिवार कालक्रमिक स्तर पर पालि की अपेक्षा प्राचीनतः निसृत है। जहाँ सामान्य स्रोत प्रामाणिक है; उदाहरण के लिए पालि और प्राकृतों के लिए, जो दोनों कुछ अन्य लोकप्रिय माध्यमों के द्वारा मध्यकालीन-आर्य-भाषा -परिवार की रचना करती है; प्राचीन भारत-आर्य परिवार ऐसे ही रोमांस परिवार के लिए निम्न लैटिन; अथवा जर्मन भाषाओं के लिए सामान्य जर्मन; अथवा नवीन भारतीय-आर्य-भाषाओं के लिए संस्कृत, वहाँ इस स्रोत से सामान्यतया आगे जाने की आवश्यकता नहीं है।

ऐतिहासिक और तुलनात्मक व्याकरण--दोनों उस अंश तक सफल होते हैं कि हम ध्वनि-प्रक्रिया और पद-रचना दोनों के स्तर पर समान रूपों की श्रेणियाँ स्थापित करने में समर्थ हो जाते हैं। ऐसे सम्बन्धों की संख्या जितनी अधिक होगी. एकैक सम्बन्ध के सूचीकरण में उतनी ही यथार्थता होगी और आन्तरिक तथा तुलनात्मक पुनर्गठनों में हमें उतनी ही अधिक सफलता मिलेगी।

अब हम व्युत्पत्ति शास्त्र की किसी शब्द के इतिहास के रूप में परिभाषा कर सकते हैं। अत: यह कालक्रमिक रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है। इससे आगे इसका अध्ययन कालक्रमिक अर्थ-विज्ञान के साथ ही सूक्ष्मतया किया जाना चाहिए जिससे कि हम कोशगत अतिव्याप्ति को पृथक् करने मे समर्थ हो सकें। सजातीय रूपों की तुलना के द्वारा हम उस सामान्य स्रोत के ध्वन्यात्मक और पद-वैज्ञानिक स्वरूप तक पहुँच जाते हैं, जिसके कि वे पृथक् प्राप्त किये हुए रूप हैं। फिर भी—व्युत्पत्ति शास्त्र और ऐतिहासिक व्याकरण में एक अन्तर है, बहुत बड़ा अन्तर, तथा आवश्यक अन्तर। जहाँ कालक्रमिक ध्वनि प्रक्रिया एवं पद-रचना सजातीय भाषाओं में अधिक से अधिक सम्बन्धों का संचय करती है; वहाँ व्युत्पत्ति शास्त्र किसी शब्द के एक ही ऐसे पद से सम्बन्ध रखता है (अथवा अधिक से अधिक किसी सम्बन्धित शब्द-रूपों के समूह से सम्बन्ध रखता है), और उस पद का सम्बन्ध उन सम्भाव्य सजातीय पदों से करता है, जिसकी मान्यता कालक्रमिक ध्वनि-प्रक्रिया एवं कालक्रमिक पद-रचना के परिणामों को यथार्थ रूपेण प्रयुक्त करने पर स्थिर किये गए हैं। यह अन्तर इस वक्तव्य से और भी स्पष्ट किया जा सकता है कि ऐतिहासिक व्याकरण किसी बड़ी पार्श्व भूमि पर किये गये रोगन का बड़ा पर्त हो और व्युत्पत्ति शास्त्र उस रोगन के क्षुद्रतम विन्दुओं में बड़ी सफ़ाई से की गई लघुतम रंगसाजी हो।

अब मैं उन आवश्यक सिद्धान्तों पर आता हूँ जिनका कि ध्यान प्रत्येक व्युत्पत्ति शास्त्री को शब्द-व्युत्पत्ति पर कार्य करते समय रखना चाहिए है, उदाहरण के लिए यदि हम हिन्दी के किसी शब्द की व्युत्पत्ति जानना चाहें तो, हमें सबसे पहले अन्य आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में पाये जाने वाले सजातीय रूपों को देखना पड़ेगा

और प्राचीन भारतीय आर्य शाखा से मध्य भारतीय आर्य शाखा में होते हुए विकास का पता चलाना पड़ेगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक वंश-क्रम अनेक उप-पद्धतियों में स्थान और काल के प्रतिबन्धों को सन्तुष्ट करें। यदि हमें आन्तरिक पुन-र्निर्माण अथवा तुलनात्मक पुनर्निर्माण के द्वारा मध्यवर्ती शृंखला-रूपों का पुनर्निर्माण आव-श्यक प्रतीत होता है जिससे कि प्रामाणिक सजातीय रूपों को जोड़ने वाले विकास का क्रम स्पष्ट किया जा सके तो, इन पुनर्निर्माणों में काल की गहराई होनी चाहिए और इन्हें स्थान एवं काल के प्रतिबन्धों को सन्तुष्ट करना चाहिए। उदाहरण के लिए भारतीय आर्य शाखा के इतिहास में हम यह देखते हैं कि किसी काल-विशेष में आनुनासिक अघोष स्पर्श वर्णों का समूह उत्तर-पश्चिमीय भारत में संयुक्त व्यंजन आनुनासिक सघोष स्पर्श बन गया। इस प्रकार के रूप बनने से पूर्व संयुक्त व्यंजन अपरिवर्तित ही रहा; जैसा कि हम प्राकृत शिलालेखों और २६० ईसवी तक के खरोष्ठी धम्मपद में देखते हैं; लेकिन एक बार जब इस प्रकार का परिवर्तन हो गया तो भाषा की ध्वनि—प्रक्रियात्मक पद्धति में जहाँ-जहाँ हमें इस स्थिति में अघोष स्पर्श मिला, वहाँ-वहाँ हमें वह नियमित रूप से सघोष स्पर्श ही दिखलाई दिया। इस प्रकार आज का पंजाब शब्द संयुक्त पद पंच + आप:(पाँच नदियों की भूमि) रहा होगा। जिस प्रक्रिया से यह सब हुआ है, उसे हम इस प्रकार रख सकते हैं:—यह नवरीतियोजना पहले-पहल किसी एक व्यक्ति के भाषण में हुई होगी और तब उसने इसे एक सीमित सन्तति वर्ग तथा समूह तक पहुँचाया होगा। तब किसी केन्द्र-विन्दु से इसका प्रचार प्रारम्भ हुआ और उस क्षेत्र में कुछ पीढ़ियों तक किसी काल-विशेष में यह प्रचलित रहा, जहाँ आधुनिक पूर्वीय और पश्चिमीय पंजाब है। इस नवरीतियोजना के प्रसार से पूर्व इस क्षेत्र में घोषीकरण नहीं हुआ था और अनुनासिक के बाद में आने वाले सघोष और अघोष स्पर्शों से स्वनिमात्मक अन्तर माना जाता था। लेकिन जब एक बार घोषीकरण एक नियमित लक्षण बन गया तो, इस स्थिति में उस क्षेत्र के व्यक्तियों ने अघोष और सघोष में कोई स्वनिमात्मक अन्तर नहीं रखा; सिवाय आगत शब्दों के जो कि उन उन क्षेत्रों से आए, जहाँ कि यह अन्तर अब भी स्वानिमात्मक था। यदि शब्द व्युत्पत्तिक कारणों के लिये हम पुनर्निर्मित रूप की प्राप्ति से सम्बन्धित शब्द की व्याख्या करने के लिए अनुनासिक के बाद में आने वाले अघोष-स्पर्श के घोषीकरण के उदाहरण दें तो, हमें निश्चय हो जाना चाहिए कि जिस शब्द की व्युत्पत्ति की हम रचना कर रहे हैं, वह उस काल से पूर्व का न हो, जब कि उस क्षेत्र में यह घोषीकरण हुआ था।

प्रत्येक पग पर जहाँ हम व्युत्पत्तिशास्त्रीय समीकरणों की स्थापना करते हैं और पुनर्निमित रूपों को विच्छेद-पूर्ति के हेतु बनाते हैं तो, हमें परिस्थिति के संदर्भ में स्थान-काल के विषय में सचेत रहना चाहिए। ऐतिहासिक और तुलनात्मक व्याकरण उस विस्तृत रूप में, जिसके द्वारा वे ऐतिहासिक ध्वनि-प्रक्रिया और ऐतिहासिक पद-रचना से सम्बन्धित वक्तव्यों की रचना करते हैं, हमारी सहायता कर सकेंगे। ध्वनि-प्रक्रिया और पद-रचना के स्थानगत और कालगत विकास में हमें एकैक करके सम्बन्ध का हर समय ध्यान रखना चाहिए।

तुलनात्मक व्युत्पत्ति शास्त्र सम्बन्धी कार्य-प्रणालियों के आंशिक विवेचन को कुछ उदाहरण स्पष्ट करेंगे। कल्पना करें कि संस्कृत शब्दावली में अधिक प्रचलित रूप 'घृत' नहीं अपनाया गया हो और हमारे पास केवल प्राकृत रूप 'घअ' 'घिअ' और अखिल भारतीय भारत-आर्य 'घी' रूप रह गये हों। तुलनात्मक ध्वनि-क्रिया यह बतलायेगी कि प्राकृत रूप 'घअ' और 'घिअ' संस्कृत के पूर्व अक्षर के स्वरात्मक 'ऋ' का अधिक संभव प्रतिरूप है, जिसका पुनर्निर्माण हम 'घृ' के रूप में कर सकते हैं। दूसरी ओर, दूसरा अक्षर निम्न रूप में से किसी का प्रतिनिधित्व कर सकता है; जैसे क, ग, च, ज, त, द, प, ब, और हमारे पास भारत में प्रमाणीकृत रूपों के द्वारा ही निर्माण करने का कोई साधन नहीं है; तो भी यदि हमें निया-प्राकृत रूप 'घिद' मिलवाएँ तो, पुनर्निमित रूप के द्वितीय अक्षर के रूप में हमें 'त' अथवा 'द' में से किसी को मानना पड़ेगा। दूसरी ओर, यूरोपीय रोमानी, जो कि भारत-आर्य शाखा की एक उपशाखा है, संस्कृत 'त' तथा रोमनी 'ल' में नियमित अनुरूपता प्रदर्शित करती है और 'घी' के लिए हमारे पास 'खिल' रूप है। इससे हमें संस्कृत के मूलरूप 'घृत' के पुनिर्निर्माण में सहायता मिलती है, जो प्राकृत में 'घिअ', 'घअ', निया-प्राकृत में 'घिद' तथा नवीन भारत-आर्य में 'घी' है। अगर तुलना के लिए हमारे पास रोमानी रूप न हों तो, मध्यम-आर्य-भारतीय तथा तथा नवीन-आर्य-भारतीय रूपों से 'घृत' रूप का पुनर्निर्माण सम्भव न था। यह तथ्य इस आवश्यकता को प्रकाशित करता है कि मूल रूपों के, जिनसे सामान्य संप्रेषण के द्वारा किसी परिवार में सजातीय रूपों की प्राप्ति हुई है, पुनर्निर्माण के लिए एक ही परिवार की यथेष्ट संभावना सहित तीन स्वतन्त्र भाषाओं की तुलना की जानी चाहिए।

व्युत्पत्तिशास्त्री प्रायः पारिवारिक रूप से दो असम्बद्ध भाषाओं के ऐसे परिवार की तुलना की आवश्यकता का अनुभव करते हैं; जो एक-दूसरे के बिलकुल निकट हों और जिन्होंने साथ-साथ मिलकर भौतिक सम्बन्धों के द्वारा एक-दूसरे की उप-पद्धतियों को उर्वरा बनाया हो। हमारे देश में विशेष रूप से जिसमें कि चार भिन्न भाषा-परिवार—भारत-आर्य, द्रविड, मुंडा या एस्ट्रो एशियाई और तिब्बत-बर्मन हैं, यह और भी सच है। इन चारों परिवारों में तीन से चार हजार वर्षों तक जो पारस्परिक क्रिया–प्रतिक्रिया रही है, उससे प्रत्येक में ऐसे शब्दावली सम्बन्धी तत्त्व आ गये, जिन्हें हम अन्तिम रूप से शेष तीनों में से किसी से आगत ही मानेंगे। लेकिन दुर्भाग्य से अन्तिम दो परिवारों के कोई प्राचीन आलेखन नहीं हैं और लिखित रूप में वे केवल पिछले दो सौ वर्षों से ही मिलते हैं। परिणामतः हमें प्रत्येक भाषा के आन्तरिक पुन-र्निर्माण पर ही निर्भर रहना पड़ता है और तब हम उस मापदण्ड से तुलनात्मक पुनर्निर्माण का रूप खड़ा कर पाते हैं, जिनमें बहुत-सी आवश्यक बातें छूट जाती हैं। द्रविड़ परिवार की, जो कि भारत-आर्य परिवार के साथ बहुत लम्बे समय से लिखित रहा है, स्थिति कुछ अच्छी है और इस प्रकार हमारे पास बहुत सी प्रस्तावित व्युत्पत्तियाँ हैं, जिनसे यह पता चलता है कि द्रविड़ परिवार प्रदाता रहा है अथवा आदाता। दुर्भाग्य से फिर भी, तुलनात्मक द्रविड़ परिवार को एक निश्चित स्तर तक पहुँचने के लिए अभी पर्याप्त प्रगति करनी है। ऐसे अध्ययन की अनुपस्थिति में स्थान-काल का मापदण्ड ही हमें बहुत- से गर्त्तों से बचा सकता है।

यहाँ एक उदाहरण यह प्रदर्शित कर देगा कि इसमें कितनी कठिनाइयाँ हैं। प्रो० ज्यूल ब्लाख ने 'दिव्यावदान' में आए हुए क्रिया-धातु 'बोल्' और प्राकृत के 'बोल्ल' का सम्बन्ध, सामान्यतया अपेक्षित, संस्कृत 'ब्रू' से नहीं बताया; बल्कि तमिल के 'वगुळि' (शोर और शब्द), कन्नड़ के 'बागुळु', 'बोगळु' (चिल्लाना) और संभवत: कन्नड़ के 'बोन्बे', तेलुगु के 'बोब्बा' (चिल्लाना—जिससे कि हमें मराठी में 'बोब' इत्यादि मिलता है) से बताया है; जबकि हिन्दी का 'बोलना' शब्द संस्कृत के 'बोल' अथवा 'बोल्ल', मराठी के 'बोलणें' का 'ल' मध्य-भारत-आर्य 'ल्ल' से नियमित रूप से अनुरूपता का सम्बन्ध रखता है, और इसीलिए इससे यह स्पष्ट होता है कि मध्य-भारतीय-आर्य 'बोल्ल' रूप प्राचीन-भारतीय-आर्य 'ब्रू' रूप का 'अल्ल' सहित प्रसार है। दूसरी ओर, मध्य-भारतीय-आर्य 'बेल', 'बोल्ल' और ब्लाख के द्वारा उद्धृत किये गये द्रविड़ रूपों में सम्बन्ध कुछ भी हो, मराठी 'बोलणें' का अस्तित्व निश्चित रूप से प्रकट करता है कि नवीन-भारत-आर्य रूप का उद्भव मध्य-भारत-आर्य रूप 'बोल्ल' ही था और इस प्राचीन-भारतीय-आर्य प्रतिरूप क्रिया धातु 'ब्रू' का 'अल्ल' प्रत्यय से युक्त रूप था।

प्राचीन-भारत-आर्य 'दीर्घ' और 'लाक्षा' से क्रमश: हमें मध्य-भारतीय-आर्य रूप 'दीघ', 'दीह', 'लाखा' इत्यादि मिलते हैं। जिस रूप में वे हैं, उनसे हमें यह मान लेना पड़ता है कि द्विक व्यंजनों का सरलीकरण मध्य-भारतीय-आर्य काल जैसे पूर्व काल में ही कभी हो गया था। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह रूप आदिम मध्य-भारतीय-आर्य रूप 'दीग्घ' और 'लाक्खा' अथवा नियमित रूप 'दिग्घ' और 'लक्खा' से सम्बन्ध रखते हैं, या नहीं। मध्य-भारतीय-आर्य भाषा की परिधि से तो इस समस्या पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है; किन्तु यदि हम कुछ नवीन-भारतीय-आर्य-भाषाओं जैसे सिन्धी और पंजाबी के लक्षणों पर विचार करें तो, हम यह तुरन्त जान जाते हैं कि जहाँ तक प्रारम्भिक अक्षर का सम्बन्ध है, सिन्धी के दीर्घ या ह्रस्व स्वर नियमित रूप से गुण और मात्रा में प्राचीन-भारतीय-आर्य शाखा के दीर्घ या ह्रस्व स्वर से सम्बन्ध रखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन-भारतीय-आर्य भारत में, छन्द शास्त्र के अनुसार दीर्घ होते हुए भी, प्रारम्भ का ह्रस्व स्वर सदैव सिन्धी के ह्रस्व स्वर के सम-रूप रहेगा। उदाहरण के लिए प्राचीन-भारतीय-आर्य 'रक्त', सिन्धी 'रतु', प्राचीन-भारतीय-आर्य 'रात्रि', सिन्धी 'राति।' दूसरा उदाहरण पहले उदाहरण के विपरीत है और छन्द शास्त्र के अनुकूल प्रारम्भ के दीर्घ अक्षर का दीर्घ स्वर सिन्धी में दीर्घ ही रहता है। सिन्धी रूपों के पुनर्निर्माण में और उनको पूर्व रूप तक ले जाने के लिए हमें इस अन्तर को ध्यान में रखना चाहिए। परिणामत: हम एक आदिम मध्य-भारतीय-आर्य बोली तक पहुँच जाते हैं, जिसमें छन्द-शास्त्रानुकूल 'गुरु' अक्षरों के साथ, दीर्घ और ह्रस्व दोनों ही स्वर थे—तथाकथित और मात्रिक नियम नहीं प्रयुक्त होता था। दूसरी ओर, पंजाबी मध्य-भारतीय-आर्य भाषा के द्विक व्यंजनों और एकल व्यंजनों के मध्य नियमित सम्बन्ध प्रकट करती है, जबकि प्रारम्भिक अक्षर के स्वर की दीर्घता को हटाने के लिए शेष नवीन भारतीय-आर्य-भाषाओं का अनुकरण करती है। इन लक्षणों का विकास दो पार्श्ववर्ती क्षेत्रों में, जहाँकि सिन्धी और पंजाबी विकसित हुई, पृथक-पृथक रूप से हुआ। यथार्थता के लिए यह अच्छा हो, यदि हम इस विकास की तिथियाँ भी निश्चित कर दें।

स्थान एवं काल नियामकों का महत्त्व, विशेषकर व्युत्पत्तिक पुनर्निर्माण के प्रयोगों में, भली प्रकार से प्राचीन-भारतीय-आर्य भाषा के लिए प्रस्तावित 'पूजयति', 'पूजा' इत्यादि की व्युत्पत्तियों का विचार करके, समझाया जा सकता है । सबसे पहले सामान्य, द्रविड़ मूल शब्द को ही लीजिए, जो कि द्रविड़ के 'पू+चेई' के समरूप है । प्राचीन-भारतीय-आर्य 'पूजा' और 'पूजयति' रूप पाणिनि से पूर्व ही प्रामाणिक हो चुके थे । द्रविड़ 'चेई' पूर्वतर रूप 'केई' से तालव्यीकरण के द्वारा आया है; लेकिन द्रविड़ भाषा में यह तालव्यीकरण बहुत बाद की प्राप्ति है और उस काल के लिए, जबकि संस्कृत 'पूजयति' शब्द प्रचलित था, अपेक्षित द्रविड़ रूप वस्तुत: 'केई' था न कि 'चेई ।' यही एक महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तावित द्रविड़ उद्भव के निराकरण के लिए पर्याप्त है ।

अब हम पॉल थीम (Paul thieme) के द्वारा प्रस्तावित शब्द-व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे, जिसका कि उन्होंने ZDMG (९३१०५-२३) को भेजे हुए अपने लेख में विचार किया है । वैदिक काल के यज्ञोत्सव और पुराण तथा तंत्र काल की विहित विस्तृत पूजा के अर्थगत सम्बन्ध का विवेचन करते हुए थीम महोदय ने तमिल और कन्नड़ प्राप्त क्रमशः 'पूचु' और 'पूसु' धातुओं का, जिनको कि शारपेन्तियर (Charpentier) ने पूर्व ही द्रविड़ व्युत्पत्ति के लिए प्रस्तावित किया था, विरोध किया है । उन्होंने बड़े विस्तृत रूप से 'पूजा' तथा 'पूजयति' क्रिया के भिन्न-भिन्न प्रकार के साहित्य से उदाहरण प्रस्तुत किए हैं; तथा इसी प्रकार के संदर्भ में उन्होंने अर्थ-निर्धारण के लिए इन रूपों के स्थानापन्न समानार्थक अन्य धातुओं को भी रखा है । इन सब उपस्थापनों की राशि के आधार पर थीम महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'पूजा' और 'पर्क' अर्थ-विज्ञान और 'शब्द-व्युत्पत्ति' से एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं । यह 'पर्क' शब्द 'पृच्' धातु (मिल जाना) से निकला है, जिनके कि ऋग्वेद में आज के रूप 'पृणक्ति', 'पृंचति' मिलते हैं । अथर्ववेद में हमें सार्वधातुक रूप 'पृंचति' मिलता है । तुलना कीजिए प्रेरणार्थक 'पृंच' तथा वर्तमान कृदन्त 'पृंचनी' से । वहीं बहुपदीय शब्दों 'जनयाम अकर', विदाम् कुर्वन्ति', 'विभ्याम् चकार' इत्यादि के सादृश्य पर 'पृचाम अकर', 'पृचाम करोतु' 'पृचाम चक्रे' इत्यादि रूपों की स्थापना करते हैं । उपगृहीत 'पृचाम' से हमें विशेष प्रचलित माध्यमिक रूप 'पुंचम' (प्राचीन-भारतीय-आर्य 'ऋ', मध्य-भारतीय-आर्य 'उ', ओष्ठ्य 'प' की उपस्थिति में), 'पुंजम', 'पुज्जम', 'पूजाम' रूप मिलते हैं; जहाँ से पूजाम-कृ-पूजयति बनता है ।

उपर्युक्त शब्द-व्युत्पत्ति को प्रस्तावित करते हुए थीम महोदय माध्यमिक पुनर्गठनों की निम्नलिखित श्रेणी बतलाते हैं:—'पुंचम',—'पुंजम',—'पुज्जम'—'पूजाम ।' मूल रूप 'पृचाम' रखने पर 'पुंचम' के लिए कोई आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि ईसा की तीसरी शताब्दी से पूर्व ही प्राचीन–भारतीय-आर्य सघोष 'ऋ' स्वनिमात्मक नहीं रही थी और भारत में भिन्न-भिन्न मध्य-भारतीय-आर्य बोलियों में 'अ', 'इ', अथवा 'उ' के रूप में प्राप्त हुई । केवल भारतवर्ष के बाहर ही हमें व्यंजन स्वरूप 'र' के 'अ', 'इ' अथवा 'उ' स्वरों के साथ निश्चित रूप से आने के चिन्ह मिलते हैं । दूसरी ओर, 'ञ्ज' तक का घोषीकरण एक ऐसा लक्षण है, जो कि ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद तो प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि समस्त प्राकृत आलेखनों से यह पता चलता है कि पंच-पंच के ही रूप में उस क्षेत्र में रहा,

जो कि पंजाब कहा जाने लगा। इसलिए 'पूजा' और पूजापति' के साथ घोषीकरण के लक्षण की कल्पना ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व प्रमाणित मान लेना अग्राह्य है और शब्द-व्युत्पत्ति में संदेह उत्पन्न करती है। इसी कारण 'पुज्ज' में एक 'ज' का ह्रास तथा बदले में प्रारम्भिक अक्षर का दीर्घ होकर 'पूजा' हो जाना संदेहास्पद है; जबकि 'पृंच' से 'पूजा' तक के अनुमानित मार्ग में आई रीतियाँ भिन्न-भिन्न समय और क्षेत्रों में प्राप्त हो चुकी हैं। अतएव 'पूजा' और 'पूजयति' के घटित होने के समय स्थान-काल-नियामक यह प्रकट करते हैं कि वे उनमें से प्रत्येक के बहुत पूर्व काल के हैं; जबकि प्रस्तुत की गई शब्द-व्युत्पत्ति भारतीय-आर्य भाषा के सामान्य विकास की संतुष्टि है। अतः विवेचित विशेष विषय अपना सब महत्त्व खो बैठता है; क्योंकि ये प्रमुख नियामक बाद की शताब्दियों में प्राप्त विकास की प्रक्रिया की प्रयुक्ति को असिद्ध कर देते हैं।

यह अकेला उदाहरण ही उन न्यूनताओं के लिए हमारी आँखें खोल देता है, जबकि पुनर्निर्माणों का परीक्षण स्थान-काल के विकास-क्रम से नहीं किया जाता। इसी कारण जबकि हमें इन शब्दों की व्युत्पत्ति देखनी होती है तो, यथार्थतः हमें प्रत्येक पग पर सावधान रहना चाहिए। दूसरे अन्य तथ्यों के साथ काल का भी पूर्ण महत्त्व है जिसमें कि वह रूप प्रचलित होता है और जो स्थान-काल के प्रतिबन्ध को प्रस्तुत माध्यमिक रूपों द्वारा पूरा करता है। ऐसे समय में जबकि भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की बहुत-कुछ प्रगति हो चुकी है, आधुनिक वैज्ञानिक रीति के अनुसार व्युत्पत्ति शास्त्र कुछ तारकांकित माध्यमिक रूपों को प्रस्तुत कर देना-मात्र ही नहीं है, यह तो वह निश्चयात्मकता है, जिसके साथ ये माध्यमिक रूप स्थान-काल के संदर्भ में, हमारे ज्ञान के सामान्य विकास के द्वारा आरोपित समस्त कठोर प्रतिबन्धों की पूर्ति करते हैं।

मैं इस रुचिकर विषय पर आगे और भी बढ़ सकता हूँ और असावधान व्युत्पत्ति शास्त्री के सामने जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, उनके उदाहरण भी प्रस्तुत कर सकता हूँ; लेकिन समय की कमी मुझे ऐसा करने से रोक रही है। मैं आशा करता हूँ कि साधारणतया मैंने उन मूल तत्त्वों की ओर संकेत कर दिया है, जो अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के व्युत्पत्ति शास्त्र को चित्ताकर्षक बनायेंगे और उन सिद्धान्तों का भी निरूपण कर दिया है, जो हमारे ध्यान में रहने चाहिए। इस शास्त्र का क्षेत्र विस्तृत है, लेकिन इसमें खतरे भी कम नहीं हैं। यदि आप अपनी राह के प्रत्येक सोपान पर मौलिक सिद्धान्तों का ध्यान रखें तो, आप एक का विस्तार बढ़ा सकते हैं और दूसरे का घटा सकते हैं।

अन्त में आपसे मिलने और आपके सामने कुछ निवेदन करने का अवसर प्रदान करने के लिए मैं क० मुं० हिन्दी विद्यापीठ और आगरा विश्वविद्यालय को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। आपने मेरे प्रति प्रगाढ़ आतिथ्य प्रदर्शित किया है और मैं आशा करता हूँ कि मैंने आज आपके सम्मुख जो विचार रखे हैं, उनके प्रति भी आपका वैसा ही सद्भाव होगा।

राधेश्याम त्रिपाठी

डिंगल गद्य-साहित्य की प्रस्तावना

(१)

साहित्य जीवन की सशक्त अनुभूति का मूर्त्त रूप है। भाव, विचार और कल्पना के संयोग से साहित्य जन-मानस की अभिव्यक्ति का साधन बनता है। मानव की जिज्ञासा-वृत्ति के समाधान और अनुभूति को आकार प्रदान करने में साहित्य का एक विशिष्ट योग रहा है। किसी भी देश अथवा प्रान्त का साहित्य तत्कालीन भाषा के रूप-वैभव के उपकरणों को अंगीकार करके विकसित एवं पुष्ट होता है। भाषा साहित्य के रूप-विन्यास का सामान्य पर मूलभूत उपकरण है, जिसकी साधना कम महत्वपूर्ण नहीं है। यहाँ तक कि कुछ देशी-विद्वान तो अभिव्यक्ति तथा कला को पर्याय रूप में ही स्वीकार करते हैं।

भाषा वस्तुतः मानव द्वारा रचित एक सृष्टि है और उसके रूप-गठन में भी वे ही शक्तियाँ संनिहित होती हैं जो सृष्टि लीला में सतत् क्रियमाण रहती हैं। वे शक्तियाँ हैं—ऋत् तथा सत्। जन-जीवन जब एक चेतना से उद्भाषित होता है और वह जीवन के सहज रूप की ओर अग्रसर होता है, तो इस प्रगति के क्षण में वह अपनी वाणी को भी सहज रूप में गठित कर लेता है। जन-चेतना से निखरा हुआ वह भाषा का रूप, अपने प्रकाश तथा विस्तार के कारण साहित्य में यथास्थान प्राप्त करने लगता है। लोक-भाषा साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करती है तो एक वैशिष्ट्य को लेकर और धीरे-धीरे वह भाषा उन वैशिष्ट्यों में परिनिष्ठित हो जाती है। उसमें ऋत् का (गत्यात्मक) तत्व कम-से-कम होने लगता है तथा सत् का (स्थिरत्व) तत्व अधिक से अधिक नियोजित होने लगता है। इस प्रकार भाषा की यह गतिशीलता सदा सर्वदा प्रवहमान देव-सरिता के समान है, जो बंधकर नहीं चलती; सदा अपनी उन्मुक्त भंगिमा का सम्मोहन छिटकाती, नव-निनाद की ध्वनि बिखेरती जन-जीवन को अमृत-दान करती रहती है। यही कारण है कि भाषा सदा अपने दो रूपों में विद्यमान रही है। एक सुसंस्कृत भाषा तथा दूसरी लोकभाषा। ये द्वि-रूप दो धाराओं के समान प्रवाहित होते रहते हैं। जब भाषा साहित्यिक विधि-विधानों से जड़ित सिंहासन पर आसीन हो जाती है तब लोक-भाषा नवरूप विन्यास में लीलामय होती है। वैदिक, संस्कृत, प्राकृत पाली, अपभ्रंश तथा आधुनिक आर्यभाषाओं का यह चक्रनेमिक्रम इसी प्रकार से गतिशील रहा है।

हिन्दी के गठन और उसके साहित्यिक विकास में राजस्थान का महत्वपूर्ण योग रहा है। 'राजस्थान' शब्द का प्रयोग जेम्स टॉड के The Annals and Antiquities of Rajasthan में हुआ है। अठारहवीं शताब्दी के दूसरे चरण में लिपिबद्ध 'राव सी है जी री वारता' में एक स्थान पर 'राजथांन' का उल्लेख है। इसी प्रकार यह शब्द मुहणौत नैणसी और बांकीदास की ख्यातों में भी राजधानी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। डिंगल के कुछ गीतों में भी राजस्थान शब्द का प्रयोग हुआ है। टॉड द्वारा प्रयुक्त किए जाने पर इस शब्द के प्रचार ने विस्तार पाया।

आज हम जिस भू-भाग को 'राजस्थान' के नाम से अभिहित करते हैं; प्राचीन काल में इस प्रदेश का एक नाम नहीं था। यह प्रदेश कई खंडों में विभक्त था और उसके नाम भी भिन्न-भिन्न थे। प्राचीन उल्लेखों के अनुसार राजस्थान के उत्तरी भाग का नाम 'जांगल', पूर्वी का 'मत्स्य', पश्चिमी भाग का 'मद, भादबल्ल, भवणी' और मध्यभाग का 'अर्बुद' और 'सपादलक्ष' आदि नाम थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मन्तव्यानुसार 'साल्व जनपद' तथा पृथ्वीसिंह महता के कथनानुसार 'परियाय मंडल' भी राजस्थान के अंग थे।[1] डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का मत है कि उत्तर काल में, ईसा के बाद प्रथम वर्ष सहायक के द्वितीयार्द्ध से मध्यदेशीय शूरसेन मारवाड़-गुजरात का घनिष्ट सम्बन्ध था।[2] डा० चाटुर्ज्या की यह मान्यता रही है कि एक समय सिंधु, गुजरात और मारवाड़ सम्मिलित रूप से एक राष्ट्र था; गुर्जरया याने गूजर या गुर्जर लोगों का देश; ये प्राचीन नाम ख्रीस्तीय नवीं शती में मारवाड़ ही के पर्याय थे; और 'लाट' देश जो ईसा के समय से काठियाबाड़ का ही एक नाम रहा है, किसी न किसी समय पर और व्यापक था—दक्षिण सिंध प्रान्त इसी के अन्तर्गत अथवा इसी से संयुक्त था; अब तक दक्षिण-सिंध का नाम है 'लाड़' जो 'लाट' शब्द ही का एक अर्वाचीन रूप है।[3] प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में राजस्थान के स्थान पर मरुदेश, मरुधर आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। एक जैन-गीत में—'मरुदेशे प्रसिद्ध छै' का भी उल्लेख है।[4]

भारतवर्ष के अनेक प्रान्तीय भागों में वहाँ की स्थानीय एवं साहित्यिक भाषा को उस प्रान्त के नाम के साथ जोड़ दिया गया है। यह प्रान्त की विशेषता के साथ-साथ भाषा की विशिष्टता का भी सूचक बना हुआ है। यही कारण है कि राजस्थान की प्राचीन भाषा के संबंध में जो उल्लेख मिलते हैं, वे प्राचीन नामों के साम्य पर भी हैं। सतरहवीं शताब्दी के कनक सुन्दर कृत्त 'देवदत्तरास' 'मारूनी-भाषा'[5] तथा 'रस-विलास' में मरू-भाषा[6] का उल्लेख मिलता है। अबुल फजल ने आइने-अकबरी में भारत की प्रमुख भाषाओं में 'मारवाड़ी'[7]

---

१. हिन्दी साहित्य के इतिहास की पीठिका—काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित।
२. राजस्थानी भाषा, पृष्ठ ४७—डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या।
३. ,, ,, ,, ५४— ,, ,,
४. जैन गुर्जर कवियों—देशीयोनि अनुक्रमणिका।
५. आगई-प्रे पण रासज हतू मारूनी भाषा बोलात्—देवदत्तरास (सं० १६६२)
६. मरूभाषा निर्जल तजि करि ब्रजभाषा चोज—रसविलास (सं० १६४४)
७. Linguistic survey of India—भाग १, पृ० १— डा० ग्रियर्सन।

को गिना है। उत्तरकालीन ग्रन्थों में कवि मंछ के रघुनाथ रूपक में—'मरूधर भाषा मंछ कवि', सूर्यमल मिश्रण के वंशभाष्कर में—'मरू देशीय भाषा' तथा 'गजसिंह रा निर्वाण कवित्त', (गुटका) में सूचनिका मरूभाषा की में—'कोई मरूभाषा रा कवित्त छै कई पंजाबी पिण छै' तथा कवि मांड़ के पाबू-प्रकाश में 'मारूभाषा' का उल्लेख है। इस प्रकार सतरहवीं शताब्दी से इस प्रान्त का नाम 'मारूदेश' तथा उसकी भाषा का नाम 'मरूभाषा' का उल्लेख है। इन उद्धरणों को देखने से यह तो स्पष्ट है कि सतरहवीं शताब्दी के पूर्व मारूदेश तथा मारूभाषा का प्रयोग अधिक विस्तार को पा चुका था। कुछ विद्वानों ने लिखा है कि आठवीं शताब्दी में जैन विद्वान द्वारा रचित 'कुवलयमाला' में अठारह-भाषाओं के साथ 'मारूभाषा' का उल्लेख भी किया गया है। इस मत के प्रतिपादित हुए उद्धरण के रूप में यह पंक्ति प्रस्तुत की जाती है—'अप्पा लुप्पा माणी रे अह पेच्छइ मारूयेवत्सी।' वस्तुतः 'मारूयेवत्सी' का तात्पर्य है—मारूप्रदेश में बसने वाला। 'मारूयेवत्सी' स्पष्टतः मरू की भाषा की ओर तो संकेत नहीं करता, जैसा कि कुछ विद्वानों ने मान लिया है; फिर भी यह उद्धरण जिस प्रसंग के बीच में आया है, इससे यह निष्कर्ष तो अवश्य निकाला जा सकता है कि उस हाठ में भारत के अन्य प्रादेशिक व्यौपारियों के साथ मरूदेश का व्यौपारी भी रहा होगा और जिस भांति वे व्यौपारी अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओं में ग्राहकों को अपनी वस्तुओं के क्रयार्थ आह्वान कर रहे थे, उसी प्रकार वह मरुदेशीय श्रेष्ठी भी अपनी भाषा में ग्राहकों को आमंत्रित कर रहा होगा। मरूदेश में आठवीं शताब्दी के आसपास जन-भाषा अपना स्वरूप बना रही हो—यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

(२)

भाषा विकास की दृष्टि से राजस्थान की भाषा भारत की भाषाओं में द्रावडी-भाषाओं को छोड़कर सबसे प्राचीन मानी गई है। संस्कृत, प्राकृत और पाली के बाद अपभ्रंश का युग आधुनिक आर्य-भाषाओं के सम्बन्ध की रेखाओं से बंधा हुआ है। ईसा की सातवीं शताब्दी से अपभ्रंश, साहित्य में स्थान पाने लगी और दसवीं शताब्दी के अन्त तक यह भाषा पश्चिम से लेकर पूर्व में मगध तक और दक्षिण में सौराष्ट्र तक फैल चुकी थी।[८] बाद में उसकी तीन उपशाखाएँ हो गईं; जिनमें शौरसेनी मुख्य थी।[९] इसी शौरसेनी अपभ्रंश से क्रमशः (आधुनिक प्रयुक्त नाम) राजस्थानी और ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई। राजस्थान में इसी राजस्थानी को डिंगल और ब्रजभाषा को पिंगल कहा जाने लगा। टैसीटोरी इसी भाषा को 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी' की संज्ञा देते हैं तथा उसे गुजराती और मारवाड़ी की माता कहते हैं।[१०] टैसीटोरी के मतानुसार पश्चिमी राजपूताने की यही पुरानी भाषा सोलहवीं शताब्दी तक गुजरात की जन-भाषा थी। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी-हिन्दी' निबन्ध में यह मत दिया है

---

८. V. A. Smith—Early history of India—Page 393.

९. डॉ० श्यामसुन्दरदास—हिन्दी भाषा का विकास।

१०. J. A. S. B. Vol×No. 10 Page 375.

कि शौरसेनी अपभ्रंश से राजस्थानी के साथ-साथ गुजराती का भी विकास हुआ है।[११] डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने ई० सन् १६०० तक पश्चिमी राजस्थान (मारवाड़) तथा गुजरात की भाषा को एक ही माना है।[१२] डॉ० चाटुर्ज्या का कथन है कि पश्चिमी राजस्थान की बोली मारवाड़ी-गुजराती मध्यदेश की भाषा से स्वतन्त्र होने पर भी उस पर मध्यदेशीय भाषा का गहरा प्रभाव पड़ा है। वास्तव में राजस्थान, मालवा (खास करके पश्चिमी राजस्थान) दो प्रान्तीय आर्य भाषा और आर्य संस्कृतियों का मिलन क्षेत्र बना।[१३] डॉ० ग्रियर्सन ने Linguistic Survey of India नामक अपने ग्रन्थ में राजस्थान की भाषा की महत्ता को स्वीकार किया है। उक्त ग्रन्थ के अनुसार राजस्थान की भाषा का क्षेत्र राजस्थान की सीमाओं को पार करता हुआ पंजाब के दक्षिणी भाग हरियाणे को (गुडगांव, भिवानी, हिसार, सिरसा आदि) मध्यभारत में समस्त मालवे को, मध्यप्रदेश में होशंगाबाद के दक्षिणी भाग को, सिंधु के पूर्वी भाग (उमर कोट) को अपने विस्तार में सम्मिलित करता है। वस्तुतः एक समय आधुनिक ब्रज, राजस्थान, मालवा और गुजरात मिलकर एक इकाई के समान रहे हों। तत्कालीन लोक-भाषा का जो साहित्य रचा गया, उसमें भाषा तत्व की दृष्टि से अपभ्रंश की प्रवृत्तियों का प्राधान्य लक्षित होता है। मातेश्वरी अपभ्रंश की गोद में ही वे बोलियाँ पली जो प्राचीन हिन्दी के रूप में विकासमान हुई। अतः इस मरु भू-भाग में जिस बोली ने साहित्य में स्थान पाया, वह अपभ्रंश की अनेक प्रवृत्तियों को लिए हुए थी—विशेषकर इस भाषा के काव्य रूप पर तो यह प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट है।

डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने डिंगल की उन्नति का एक कारण चौहान साम्राज्य को मानते हुए कहा कि 'डिंगल की उन्नति द्रुत गति से इस कारण हुई कि राजस्थान का अधिकतर भाग चौहान साम्राज्य के अन्तर्गत रहा और चौहान नरेशों द्वारा इस भाषा को पूरा प्रोत्सहन मिला।'[१४] ग्यारहवीं शताब्दी से चौहानों का उत्कर्ष-युग रहा है। चौहान नरेश विद्यानुरागी होने के साथ-साथ चारण-भाटों को भी अपने यहाँ आश्रय देते थे। आगे चलकर चारण-भाटों की भाषा में साहित्यिक परम्परा का स्वतन्त्र अस्तित्व दृटिगोचर होने लगता है। पन्द्रहवीं शताब्दी से जबकि अपभ्रंश भाषा जनता के लिए दुर्बोध होने लगी, उन्होंने साहित्य निर्माण तत्कालीन जन-भाषा प्राचीन राजस्थानी में विशेष रूप में आरम्भ किया। यद्यपि तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही प्राचीन राजस्थानी-रास आदि ग्रन्थ लिखे जाने आरम्भ हो चुके थे; पर पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक के ग्रन्थों में अपभ्रंश का विशेष प्रभाव रहा है।

'डिंगल' यह अपेक्षाकृत प्राचीन नाम है। जब ब्रजभाषा का आविर्भाव हुआ और उसमें भी कविता होने लगी तो राजस्थानी और ब्रज में फर्क बतलाने के लिये

---

११. पुरानी हिन्दी—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी।

१२. राजस्थानी भाषा—पृष्ठ-४५-डॉ० चाटुर्ज्या।

१३. ,, ,, ५६ ,, ,,

१४. हिन्दी टॉड़ राजस्थान—पृ० ३५१ डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

ब्रज को पिंगल और उसके नाम-साम्य पर राजस्थानी को डिंगल कहने लगे। अत: डिंगल का मतलब प्राचीन काल की, या उसके ढंग पर लिखी हुई, साहित्यिक राजस्थानी से है।[१५] चारण भाटों की भाषा और साहित्यिक परम्परा भी इसी युग में स्वतन्त्र अस्तित्व धारण करती हुई दिखाई पड़ती है। इसी युग में—'डिंगल गजब ड़ोकरो ड़ाकी, पिंगल पूगल 'नाजुक नार' (१५७५ के आस पास) सुनाई पड़ता है।[१६] इस प्रकार से १५७५ के पूर्व ही डिंगल और पिंगल का रूप स्पष्ट होने लगा था। इस कथन के अनुसार डिंगल की पौरुष विशेष और पिंगल की सुकुमारता विशेष का बोध होता है। सं० १६१७ में जैन कवि कुशल लाभ के 'डिंगल नाम माला' की पुष्पिका में 'पिंगल सिरोमणे उ डिंगल नाम माला' का उल्लेख मिलता है जिसमें उडिंगल शब्द का प्रयोग हुआ है। डिंगल नाम माला डिंगल भाषा का प्राचीन कोष है। वस्तुत: डिंगल राजस्थान की साहित्यिक भाषा है, विशेषकर आधुनिक युग में डिंगल को कविता की एक शैली के रूप में समझा जाता है। वर्तमान में डिंगल कविता का एक रूढ़-स्वरूप हमारे सामने उपस्थित है, तदपि प्राचीन राजस्थानी में डिंगल की रूपात्मक एवं ध्वन्यात्मक विशेषतायें परिलक्षित हैं। विद्वानों ने डिंगल को प्राचीन राजस्थानी का सुसंस्कृत, परिमार्जित एवं साहित्यिक रूप माना है। डिंगल कविता में कविगण जान-बूझ कर द्वितवर्ण वाले शब्दों का प्रयोग किया करते थे और इसी प्रकार—साधारण शब्दों को भी तोड़ा-मरोड़ा जाने लगा, साथ ही उनके 'कुछ विशेष शब्द' आकार-प्रकार में बंध गये जिनका प्रयोग निरन्तर किया जाने लगा। परन्तु साधारण बोलचाल की राजस्थानी में ऐसे शब्दों का कोई प्रचुर प्रयोग नहीं होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि डिंगल साधारण जनता की बोध-सीमा के बाहर हो गई तथा एक विशिष्ट वर्ग की ही भाषा मात्र बन गई। इस प्रकार कविता में 'डिंगल शैली' रूढ़ बन गई, जो चारण-भाटों के द्वारा विशेष रूप से प्रयुक्त की जाने लगी। इसी प्रकार सतरहवीं शताब्दी से जब राजस्थानी साहित्य लिपिबद्ध किया जाने लगा तो, वह भी राजाश्रित तथा कुछ स्वतन्त्र लेखकों के ही द्वारा हुआ, जिन्होंने जन-भाषा और डिंगल-भाषा के दोनों रूपों की रक्षा की। इस गद्य की अधिकांश सामग्री राजस्थान के विविध राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित है। डा० टैसीटोरी एवं पं० हरप्रसाद शास्त्री ने अपने विवरण में गद्य सम्बन्धी सामग्री की शोधपरक जानकारी दी है, पर वह विवरण पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

(३)

साधारणतया मनुष्य जो भी निर्माण करता है वह उसके किसी न किसी प्रयोजन के सिद्धि हेतु होता है। भाषा भी वस्तुतः अपने स्वरूप के पीछे मनुष्य के किसी एक या अनेक प्रयोजनों को लिए है। भाव तथा विचार के आदान-प्रदान करने का माध्यम भाषा है—और ऐसा उसका प्रकृत रूप गद्य कहलाता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक

१५. बेली क्रिसन रुकमणी री भूमिका—पृ० ६-८ ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित।

१६. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, पृ० ६—सम्पादक-श्री उदयसिंह भटनागर।

लेख में कहा है—"गद्य हमारे प्रयोजनों की भाषा है। काव्य हमारे प्रयोजनातीत आनन्द का प्रेरक है। समस्या समाधान गद्य का काम है, जीवन की चरितार्थता काव्य का अभिप्रेत है।" गद्य के स्वरूप गठन में जहाँ हमारे अन्तर्मन की विकल्पात्मक शक्ति विशेष सक्रिय रहती है, वहां पद्य के रूप-विन्यास में विशेषतया संकल्पनात्मक शक्ति योग देती है। जन-समाज के दैनन्दिन कार्य के सम्पादन में—उनके प्रयोजनों की पूर्ति में भाषा का गद्य-रूप ही प्रयुक्त होता है। भाषा का यही रूप प्रकृत है, सहज है तथा सरल है। पर मनुष्य जब प्रयोजनातीत लीला में संलग्न होता है वही भाषा अपने विशिष्ट रूप में ऐश्वर्यमय होकर 'पद्य' रूप अभिहित होती है। पद्य भाषा की उल्लासमय व वैभवमय छवि है, अतः उसमें उसके प्रकृत रूप से अतिरिक्त प्रकाश निहित रहता है। इसके अतिरिक्त प्रकाश को लिए पद्यात्मक भाषा अभिव्यवित का वाहन रहती है, तब तक उसमें गति होती है, सौन्दर्य होता है और संगीत होता है; पर अपने सहज भूमि से उठा यह भाषा रूप उस प्रकाश से रहित हो जाता है, वह गतिहीन होकर प्राणहीन हो जाता है। गद्य स्थूल रहता हुआ भी, प्रकृत व सहज होने के कारण सदा जीवन-चेतना के स्पर्श को पा पाकर नव साज-सज्जा को धारण करता हुआ भाषा के अस्तित्व को चिरन्तन बनाये रखता है।

भाषा का गद्य रूप स्थूल प्रयोजन का वाहक है, पर वही तो अपने ही रूप का दान देकर प्रयोजनातीत साहित्य-सृष्टि-लीला का भव्य उपकरण बनता है। साथ ही, स्थूल प्रयोजन का साधन होने के नाते भी गद्य का महत्व कम नहीं है। प्राचीन समय में भी भाषा अपने इस रूप में भी साहित्य की सेवा कर चुकी है और इस युग में वर्तमान वैज्ञानिक युग में तो हम देखते हैं कि उसका व्यवहार जिस विस्तार से–हो रहा है, वह पद्य के महत्व को हर ले गया प्रतीत होता है।

वैदिक-गद्य के आविर्भाव में उपनिषद्-युग के ऋषि आचार्यों का चिन्तन ही प्रधान कारण रहा है। संस्कृत काल में गद्य नाटकीय-पात्रों की विविध भाव-भंगिमाओं में ही उलझा रहा और स्वतंत्र अस्तित्व की रचना-सृष्टि नहीं कर पाया। प्राकृत और पाली का युग जीवन की बहुमुखी चेतनाओं के कथात्मक स्वरूप को धारण करके गद्य के रूप में अभिव्यक्त हुआ, जिस पर अनायास ही जीवन, जगत और अध्यात्म की त्रिकोण रेखायें खिच गई हैं। अपभ्रंश युगीन गद्य चरित-काव्यों, महापुराणों और महाकाव्यों की महान, पर, विकराल दाढ़ों के बीच सिसकता रहा। लोक-हृदय ने इस सिसक का अनुभव किया और आगे चलकर लोक-मानव देशी-भाषा गद्य के रूप में विकासमान हुआ तथा अपने रूप-निर्माण की दिशा में गतिशील हुआ। विविध धाराओं के प्रचुर वेग से नवीन सृष्टि की लीला में तल्लीन हो गया। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' देश-भाषा गद्य का सबसे प्राचीन उदाहरण माना गया है। इसके रचयिता दामोदर भट्ट राजा गोविन्दचन्द (गाहड़वार) के सभा पंडित थे। संभवतः राजकुमारों को काशी कान्य कुब्ज की भाषा सिखाने के लिए इसकी रचना की गई हो।[१७] गोविन्दचंद का राज्यकाल सन् ११५४ ईसवी था।[१८] देशी-भाषा गद्य के उदाहरण चौदहवीं शताब्दी से प्राप्त होवे लगते हैं।

---

१७. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ २८. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
१८. " " " ८ " "

डिंगल अपभ्रंश के उत्तरार्द्ध की वही एक धारा है जिसने अपभ्रंश की प्रवृत्तियों के प्रभाव से अपने को मुक्त करने की चेष्टा भी की और उसके सत् अंगों को अंगीकार भी किया। डिंगल गद्य की यह धारा अपने प्रारम्भिक युग में भारत के एक विशाल भ-भाग पर रस संचिरत करती रही। विक्रम की १३ वीं से १६ वीं शताब्दी तक की लौकिक और साहित्यिक भाषा का रूप रंग इसी में निहित था। इस युग के गद्य-लेखन में जैन-विद्वानों का महत्वपूर्ण योग रहा है। जीवन को सत्य की ओर प्रेरित करने की भावना ने गद्य के द्वारा उस युग के जनमानस को अपनी ओर आकर्षित भी किया। जैन विद्वानों का यह गद्य, साहित्यिक दृष्टिकोण को लेकर नहीं लिखा गया, उसका प्रधान उद्देश्य धार्मिक भावना तथा जन-शिक्षा-मात्र था। इन विद्वानों ने जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने वाले साहित्य का सृजन किया। यही कारण है कि टीकाओं को छोड़कर, जैन-साहित्य में नैतिकता और धर्म का प्राधान्य है। जन-जीवन में सत् आचरण उनका चरम लक्ष्य था। चौदहवीं शताब्दी के इस गद्य की आठ रचनायें अभी तक प्राप्त हो चुकी हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं :—

१. आराधना (सं० १३३०) २. बालशिक्षा (सं० १३३६) ३. अतिचार (सं१३४०) ४. नवकार व्याख्यान (सं० १३५८) ५. सर्वतीर्थ नमस्कार स्तवन (सं० १३५९) ६. अतिचार (सं० १३६९) ७. तत्व विचार प्रकरण (सं० १४००) ८. धनपाल कथा (लगभग सं० १४००)

इनमें १, ३, ५ और ६ रचनायें जैन-धर्म से संबंधित विषयों पर लिखी गई स्फुट टिप्पणियाँ हैं, दूसरी रचना व्याकरण सम्बन्धी है। चौथी टीका, सातवीं में जैन-धर्म सम्बन्धी तत्वों का नामोल्लेख है तथा आठवीं कथा रूप में है। ये सभी रचनायें जैन-लेखकों की हैं; परन्तु इन रचनाओं को साहित्यिक दृष्टि से प्रौढ़ नहीं कहा जा सकता। जैन विद्वानों का यह गद्य-साहित्य बहुत विशाल है। यह साहित्य दो रूपों में प्रधान महत्व रखता है। प्रथम, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से। सं० १३ वीं से सं० १५ वीं शताब्दी तक जैनेतर स्वतंत्र ग्रन्थ रचना के अभाव में यह साहित्य उसकी पूर्ति करता है, क्योंकि राजस्थान गद्य लेखन के प्रारम्भ से प्रत्येक शताब्दी की जैन रचनाएँ उपलब्ध हैं। द्वितीय, राजस्थान का जैन-गद्य सम-सामयिक है, जबकि जैनेतर गद्य रचनायें अधिकांशतया बाद में जाकर भी लिपिबद्ध की गई।

जैन-गद्य-साहित्य के मुख्य दो भाग हैं—एक स्वतन्त्र ग्रंथ निर्माण के रूप में, जिसमें धार्मिक भावों का प्राधान्य है। द्वितीय, टीकाओं के रूप में। इन टीकाकार जैन विद्वानों ने जैनेतर ग्रंथों पर विशद् टीकायें लिखी हैं। हिन्दी और संस्कृत के उपयोगी ग्रन्थों पर जैन विद्वानों ने राजस्थान की भाषा में टीकायें की हैं। संस्कृत के भर्तृहरि शतक, अमरूक शतक, लघुस्तोत्र, सारस्वत व्याकरण पर, हिन्दी ग्रन्थों में रसिक प्रिया और केशव के नख-शिख वर्णन पर राजस्थानी टीकायें उपलब्ध हैं। 'बेलि क्रिसन रूक्मणी री' पर जैन विद्वानों द्वारा रचित सात टीकायें प्राप्त हुई हैं। खरतरगच्छीय विद्वान मेरू सुन्दर ने लगभग २० ग्रंथों पर गद्य में बालबोध-भाषा टीकाएँ लिखी हैं।

पन्द्रहवीं, सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में राजस्थान के गद्य ने पर्याप्त उन्नति की। पन्द्रहवीं शताब्दी से जैन-विद्वानों ने वर्णनात्मक गद्य रचनायें की हैं। सं० १४७८ के माणिक सुन्दर रचित 'पृथ्वी चन्द्र चरित्र-वाग्विलास' नामक वर्णनात्मक ग्रन्थ उत्तम कोटि का माना जाता है। श्री अगरचन्द नाहटा को अन्य पांच स्वतन्त्र वर्णनात्मक गद्य-ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं जिस पर 'राजस्थान-भारती' में उनका तत्संबंधी परिचयात्मक लेख प्रकाशित हुआ है। सत्रहवीं शताब्दी के सुकवि सूरचन्द्र रचित 'पदैक विशंति' नामक ग्रन्थ की अपूर्ण प्रति मुनि श्री जिन विजय को प्राप्त हुई है। मूल ग्रन्थ संस्कृत में है, पर स्थान-स्थान पर गद्य में सुन्दर वर्णन दिए गये हैं। इन वर्णनात्मक गद्य-ग्रन्थों की प्रमुख विशेषता है—तुकान्त शैली। जिस प्रकार संस्कृत के गद्य-काव्यों में दीर्घ समास प्रधान शैली पाई जाती है उसी प्रकार इन वर्णनात्मक गद्यों में वर्णन शैली तुकान्त, विस्तृत और चमत्कारपूर्ण है।

(४)

राजस्थान में जैन विद्वानों के अतिरिक्त जो गद्य साहित्य प्राप्त हुआ है उनमें ख्यातों तथा वार्ताओं का महत्त्व सबसे अधिक है। राजस्थान के चारण, भाटों तथा अन्य लेखकों ने गद्य-साहित्य रचना में महत्वपूर्ण योग दिया है। इस गद्य-साहित्य के स्वरूप को डिंगल नाम से सम्बोधित किया जाता है। गद्य सम्बन्धी ये रचनायें विवध रूपों में उपलब्ध हैं जिनमें—ख्यात, वात, विगत, वचनिका, वंशावली, पीढ़ियां, पत्र, पट्टे—परवाने, हुकमनामें, शिलालेख व ताम्र-पत्र आदि मुख्य हैं। इनके अध्ययन से राजस्थान में रचित डिंगल गद्य के एक महत्वपूर्ण स्वरूप को समझा जा सकता है; जिससे भाषा-विकास का निर्देशन तो मिलता ही है, पर साथ ही साहित्यिक, ऐतिहासिक, सामाजिक सांस्कृतिक, और आर्थिक दृष्टियों से भी यह गद्य-भंडार मध्य युग के अध्ययन की सर्वाङ्गीण सामग्री प्रस्तुत करता है। गद्य संबंधी यह सामग्री राजस्थान के विवध राजकीय पुस्तकालयों तथा व्यक्तिगत रूप से परम्परागत चारण, भाट और रावों के पास धरोहर के रूप में सुरक्षित है। राजस्थान में अकबर के सासन-काल से ख्यात और वार्ताएं लिपिबद्ध की जाने लगी थीं। इसके पूर्व कोई ख्यात तथा लिपिबद्ध रूप से उपलब्ध नहीं हुई है। 'अचलदास खीची री वचनिका' पन्द्रहवीं शताब्दी की रचना है जिसमें पद्य के साथ गद्य का भी प्रयोग किया गया है। हाँ, राज-पत्रों, दान-पत्रों तथा हुकुमनामों आदि में गद्य के फुटकर उल्लेख अवश्य प्राप्त हुए हैं जिनमें रावल समरसिंह और महाराजा पृथ्वीसिंह के प्राप्त नौ दान-पत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार ऐसे कई पट्टे-परवाने स्व० पं० मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने प्रकाशित कराए थे, जिनके रचना-काल पर विद्वानों में मतभेद है।

अध्ययन क्रम की दृष्टि से डिंगल-गद्य-साहित्य का वर्गीकरण चार मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. ऐतिहासिक गद्य-साहित्य
२. कलात्मक गद्य-साहित्य

३. धार्मिक गद्य-साहित्य
४. प्रकीर्ण गद्य-साहित्य

१. ऐतिहासिक गद्य-साहित्य

इसके अन्तर्गत निम्न अङ्गों पर विचार किया जायगाः—

क—जैनेतर

(१) **ख्यात**—ख्यात शब्द आख्याति के मूल भाव को लेकर बना है। आख्याति का अर्थ है वर्णन। किसी विशेष घटना या चरित्र का वर्णन करना ख्यात कहलाता है। ख्यात को संस्कृत के ख्याति, प्रसिद्धि का विकृत रूप भी कहा जा सकता है। ख्यात राजस्थान में ऐतिहासिक गद्य रचना को कहा जाता है जिसमें किसी चरित्र का प्रसिद्धि देने के लिए वर्णन रहता है। राजस्थान में ख्यात लिखने की परम्परा दो प्रकार से रही है—१-राजकीय ख्यात—जो किसी राजवंश की संरक्षा में राजकीय कर्मचारी द्वारा लिखाई गई। २. व्यक्तिगत ख्यात—जो स्वतन्त्र रूप से किसी व्यक्ति के द्वारा रची गई। वैणसी, बाकीदास और दयालदास की ख्यातें व्यक्तिगत हैं—परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उनका महत्व सर्वोपरि है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी लिखित 'चारण' नामक लेखमें अनर्घ राघव से एक उदाहरण मिलता है। उससे पता लगता है कि ख्यात शब्द नवीं शताब्दी में प्रयुक्त हो चुका था। परन्तु इस शताब्दी की कोई ख्यात प्राप्त नहीं हुई। उद्धरण यह हैः—

चर्चाभिश्चारणनां क्षितिरमणपरां प्राप्य सम्मोद लीलां——
माकीर्तेः सोविदल्ला नव जणय कवि प्रात (१) वाणी विलासान्।
गीतं ख्यातं च नाम्ना किमपि रघुपते रद्य यावत्प्रसादा——
द्वाल्मी केरेव धात्रीं धवलयति यशोदा मुद्रया रामभद्रः।

ना० प्र० प० भाग १-पृ० २२९

(२) **बात**—बात का अर्थ है कथा—कहानी। इस साहित्य की मौखिक परम्परा रही है। १७ वीं शताब्दी के बाद से वार्त्तायें लिपिबद्ध की गई जिनकी संख्या सैकड़ों तक कही जा सकती है। इनमें ऐतिहासिक, सामाजिक, काल्पनिक, नीतिपरक और धार्मिक आदि हैं। आज भी सैकड़ों वार्तायें मौखिक रूप से राजस्थान में जीवित हैं।

(३) **वंशावली**—किसी रजवंश की परम्परा का इसमें वर्णन रहता है। वंशावलियाँ ख्यातों से भी प्राचीन हैं, जो प्रत्येक राजघरानों और उनसे संबंधित वंशावली लेखकों के पास परम्परागत बनी रहती हैं।

(४) **पत्र**—राजकीय विचारों तथा तत्कालीन समस्याओं पर जो पत्र यत्र-तत्र संबंधित पक्षों को लिखे जाते हैं।

(५) **पट्टे परवाने**—राजकीय अधिकार एवं आज्ञा-पत्र के रूप में मिलते हैं। इनसे भी ऐतिहासिक विवरण प्राप्त होते हैं।

(६) **पीढ़ियां**—हर युग में राजवर्गों की पीढ़ियां उनके भाट व राव आदि बनाते हैं। विवाह के अवसर पर इनका महत्व अधिक होता है।

(७) **शिलालेख व ताम्रपत्र**—राजकीय आज्ञायें जिन पर क्षोदितव रची जाती है।

ख—जैन—

(१) **उत्पत्ति ग्रन्थ**—इनमें किसी गच्छ व मत आदि की उत्पत्ति का इतिहास रहता है।

(२) **पट्टावली**—जैन-आचार्यों की परम्परा का इतिहास इनसे प्राप्त होता है।

(३) **टिप्पण**—इनमें जैन आचार्य अपने युग की ऐतिहासिक व महत्वपूर्ण घटनाओं को टिप्पणी रूप में संग्रहीत करते थे।

२. कलात्मक गद्य-साहित्य

इसके अन्तर्गत निम्न अङ्गों पर विचार किया जायगा:—

(१) **बात**—कथा-साहित्य-जो लगभग १५ रूपों में पाया जाता है।

(२) **विगत**—इसमें किसी रमणीक तथा महत्वपूर्ण स्थान का विवरण रहता है।

(३) **वचनिका**—तुकान्त गद्य-शैली को वचनिका कहा जाता है।

(४) **दवावैत**—अंत्यानुप्रास गद्य-पद्य मयी रचनाओं का कहा जाता है।

(५) **वर्णनात्मक गद्य**—इन्हें वर्णन-कोष भी कहा गया है। नगर, विवाह, आदि के साथ ऋतुवर्णन इसकी प्रधान विशेषता होती है।

३. धार्मिक गद्य-साहित्य

(१) **जैनेतर धार्मिक गद्य—**

जैनेधार्मिक गद्य—उपदेश, धार्मिक भावना और सम्प्रदाय के प्रचार की दृष्टि से।

(३) **टीकायें**—दो रूपों में उपलब्ध है १. बालावबोध २. टब्बा।

(४) **अनुवाद**—रामायण, महाभारत, भागवत, व्रत, कथा, धर्मशास्त्र, कर्मकांड, स्तोत्र-ग्रन्थ आदि।

४. प्रकीर्ण गद्य-साहित्य

(१) योग, वेदान्त, वैद्यक, ज्योतिष, नीतिपरक, मन्त्र व तन्त्र सम्बन्धी।

(२) फुटकर गद्य।

चन्द्रभान रावत

मथुरा जिले का बोली-भूगोल

१. १. विभाजन

बोली की दृष्टि से मथुरा जिले को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। 'ठाड़ी बोली' (ठा० बो०) भाग तथा 'पड़ी बोली' (प० बो०) भाग। प० बो० का क्षेत्र ठा० बो० से बड़ा है।

१. १. १. ठाड़ी बोली भाग

सीमाएँ—यह भाग तहसील माट के उत्तरी भाग से आरम्भ होकर, तहसील छाता के अधिकांश पश्चिमी भाग से होता हुआ तहसील मथुरा के पश्चिमी भाग तक विस्तृत है। इस भाग का उत्तरी भाग यमुना के दोनों तटों पर स्थित है। ठा० बो० के सीमान्त भाग इस प्रकार हैं: उत्तरी सीमा गुड़गाँवाँ जिले की सीमा को स्पर्श करती है; पश्चिमी सीमा पर जिला भरतपुर (राजस्थान) मिलता है। इसके पूर्व में पड़ी बोली क्षेत्र का पश्चिमी भाग है। इस भाग का अधिकांश यमुना के पश्चिमी किनारे पर है। इस प्रकार यह भाग उत्तर में खड़ी बोली तथा पश्चिम में राजस्थानी भाषा से आबद्ध है।

१. १. २. पड़ी बोली भाग सीमाएँ

यह भाग जिले का पूर्वी तथा दक्षिणी भाग है। पूर्व में इसकी सीमा अलीगढ़ और एटा का स्पर्श करती है। दक्षिण में आगरा स्थित है। उत्तर और पश्चिम में ठा० बो० का क्षेत्र है। यह भी भाग यमुना के दोनों तटों पर विस्तृत है। पर, अधिकांश पूर्वी किनारे पर है। इस प्रकार यह क्षेत्र पूर्वी बोलियों के क्षेत्र से सम्पृक्त है।

१. २. दोनों भागों का बोलीगत अन्त

१. ध्वनि-स्तरीय अन्तर

(क) **स्वनग्रामात्मक अन्तर**—ठा० बो० में ।व। एक स्वतन्त्र स्वनग्राम है। स्वल्पान्तर युग्मः ।वाइ। 'उसको' ।बाइ। 'वायु का रोग' है। प० बो० में यह स्वतंत्र स्वनग्राम के रूप में नहीं मिलता। प० बो० में [व] केवल संयुक्त रूप में प्रयुक्त हो सकता है।

(ख) **संस्वनात्मक अन्तर**—प० बो० में व्यंजन से पूर्व ।ए। प्रयुक्त हो सकता है। जैसे ।खेतु। 'खेत' पर ठा० बो० में व्यंजन तथा ।ए। के बीच य-श्रुति आ जाती है । जैसे [ख य एत] 'खेत'

(ग) **स्वर-सन्धियों का अन्तर**—

प० बो०	ठा० बो०
अ- । औ । + । ओ । = । ओ । ⤷ ।औ ओ ।	। ओ । + । ओ । = । औ । जैसे । गयौ । 'गया था'

(ज)- **प्रवृत्तिगत अन्तर**—१. प० बो० उकार बहुला है। ठा० बो० उकार बहुला नहीं है । प० बो में व्यंजनान्त पद उच्चारान्त होने पर ।।—अ । अथवा ।—उ । ग्रहण करते हैं । जैसे । घर । =घरु । अथवा । घर । पर ठा० बो० में ।—इ । ग्रहण करते हैं । जैसे । घर—। = । घरि । इस प्रकार ठा० बो० को एक प्रकार से इकार बहुला कहा जा सकता है ।

ठा० बो० में ।—इ—। पर आधारित अक्षर से पूर्व स्थिति ह्रस्व स्वर = ।इ । से प्रभावित हो जाते हैं, प० बो० में नहीं । जैसे—

प० बो	ठा० बो	
। खबरि ।	। खिबिरि । ⤷ । खबिरि ।	'खबर'
। निकरि ।	। निकिरि । ⤷ । निकिसि ।	'निकल' ।

२. ठा० बो० में व्यंजन सुरक्षित और दृढ़ हैं । ह्रस्व स्वर लोप की ओर अग्रसर हैं । प० बो० में व्यंजनों के शिथिली करण की प्रवृत्ति मिलती है, पर स्वर अपेक्षाकृत दृढ़ और सुरक्षित हैं ।

२. पदरूपांश स्तरीय अन्तर—

(क) **संज्ञापद**—प० बो० में व्यजनान्त संज्ञा—मूल कर्ता एक पु० अन्य पुरुष में ।—उ । तथा ।—ओ । और बहुवचन में ।—अ । तथा ।—ए । पर प्रत्यय ग्रहण करते हैं । स्त्रीलिंग होने पर ।—इ । का प्रयोग होता है । ठा० बो० में ।—अ—उ—इ । पर प्रत्ययों का प्रयोग इस स्थिति में नहीं होता । जैसे—

प० बो०	ठा० बो०	
। घरु ऐ ।	। घरै ।	'घर है'
।—। घर ऐं ।	। घरैं ।	'घर हैं'
। खरि ऐ ।	। खरै ।	'खल है'

(ख) **सर्वनाम**—अन्य पुरुष अथवा संकेतार्थक सर्वनाम ठा० बो ० और प० बो० में भिन्न रूप रखते हैं—

प० बो०	ठा ० बो	
। बु⤷गु ।	। ऊ ।	'वह'
। बे⤷ग्बे ।	। वे ।⤷। वै	'वे'
। जि⤷गि ।	। ई ।	'यह'

प० बो०	ठा० बो	
। व्वा‿ग्वा ।	। वा ।	'उस'
। जा‿ग्या ।	। या ।	'इस'

मध्यम पुरुष बहुवचन का रूप प० बो० में । तुम । तथा ठा० बो में । तम । मिलता है ।

(ग) **क्रिया**—१. भूतकालिक संयोजक क्रिया, एकवचन प० बो० में ।—ओ । है तथा ठा० बो० में ।—औ है । जैसे—

प० बो०	ठा० बो०	
। छोरा ओ ।	। छोरा औ ।	'छोरा था'
। मैं ओ ।	। मैं औ ।	'मैं था'

२. √हो—का भूत कालिक कृदन्त दोनों बोलियों में भिन्न है—

प० बो०	ठा० बो०	
। भयौ ।	। हुवौ‿। हुयौ ।	'हुआ'
। भई ।	। हुई ।	'हुई'

जैसे—। गयौ + ओ । = । गयो‿गयौ ओ । 'गया था'

आ- । अ । + । ऐ । = । अऐ । । अ । + । ऐ । = । ऐ । जैसे । बात + ऐ । = । बातै । 'बात है'

जैसे—। बात + ऐ । = बात ऐ । 'बात है'

इ । अ + ई । = । अई । । अ + ई । = । ई ।

। बात + ई । = । बात ई । । बात + ई । = । बाती ।

ई- । इ + ऐ । = । इऐ ।, । खरिऐ । । इ + ऐ । = । ऐ ।, । खरै । 'खल है'

(घ) **व्यंजन-संयोग**—प० बो० में ह्रस्व स्वर । उ अ इ । का प्रयोग व्यंजन मध्यवर्ती रूप में पद में प्रत्येक स्थान पर होता है, पर ठा० बो० में उपान्त्य ह्रस्व स्वर व्यंजन मध्य-वर्ती नहीं हो सकता : व्यंजन—संयोग घटित हो जाता है । जैसे—

प० बो०	ठा० बो०
। चलिबौ ।	। चल्बौ । 'चलना'
। पकरिबौ ।	। पकर्बौ । 'पकड़ना'
। घर कूँ ।	। घर्कूँ । 'घर को'

फलत: ठा० बो० में अधिक व्यंजन-संयोग संभव है ।

(ङ) प० बो० में । ऊ ओ आ । पर आधारित अक्षर के पश्चात् । इ । पर आधरित अक्षर स्थित रह सकता है । इस परिस्थिति में ठा० बो० मे उक्त दीर्घस्वर । इ । से युक्त मिलते हैं तथा आगे व्यंजन-संयोग । जैसे—

प० बो०	ठा० बो०
। कूदिबौ ।	। कूइद्बौ । 'कूदना'
। तोरिबौ ।	। तोइर्बौ । 'तोड़ना'
। आदिमी ।	। आइदमी । 'आदमी'

(च) । स्- । + स्वर के पश्चात् प० बो० में जिन शब्दों । -च- । मिलता है, वहाँ ठा० बो० में । -स्- । मिलता है । जैसे—

प० बो०	ठा० बो०
। साँ चौली ।	। माँ सौली । 'एक गाँव का नाम'
। सोचि कैं ।	। सोइस्कैं । 'सोचकर'
। साँची ।	। साँसी ।

(छ) प० बो० में । ड् । के संस्वन के रूप में [ड़] प्राप्त होता है जो स्वर मध्य-वर्ती रहता है । ठा० बो० में इस स्थिति में । र् । प्रयुक्त होता है । जैसे । लड़की । = । लरकी । 'लड़की' ।सड़क । = । सरक । 'सड़क'
तगड़ौ । तगरौ ।

३. अनिश्चित वर्तमान का रूप दोनों में भिन्न हैं । जैसे—

प० बो० : धातु + ।—त —। + { —उ—, —अ—, —इ— } + { —ऊँ, —ऐं, —ओ, —ऐं } = वर्तमान अनिश्चित ।

ठा० बो० धातु + ० + ० + { —ऊँ, —ऐं, —ओ, —एँ } वर्तमान अनिश्चित ।

इस प्रकार प० बो० में वर्तमान कालिक कृदन्त द्योतक पदरूपांश । । त । के पश्चात् लिंग वचन द्योतक पदरूपाँश । —उ— अ— इ— । प्रयुक्त होते हैं और अन्त में संयोजक क्रिया आती है । ठा० बो० में धातु के साथ केवल संयोजक क्रिया का संयोग होता है । जैसे—

प० बो०		ठा० बो०
√कर् + त् + उ + ऐं = ।कतुं एं ।	'करता है'	√कर् + एं = । करैं ।
√जाँ + त् + अ + ओ = । जाँतो ।	'जाते हो'	√जा + ओ = ।जाओ ।

(घ) **क्रिया विशेषण**—स्थानवाचक क्रि० वि० दोनों भागों मे भिन्न हैं । —

प० बो०	ठा० बो०
। त्याँ । ~ [ज्याँ]	। हयाँ । 'यहाँ'
। म्वाँ । ~ । माँ ।	। ह्वाँ । ~ । हुआँ । 'वहाँ'

प्रश्न सूचक क्रि० वि० भी भिन्न है —प० बो० = । चौं । ठा० बो० = । क्यों । 'क्यो'

१.३. पड़ी बोली और ठाड़ी बोली के उपविभाग—

उक्त दोनों क्षेत्रों के उपविभाग जातियों के आधार पर मिलते हैं ।

१.३.१. पड़ी बोली के उपविभाग—

जातीय आधार पर इसके दो उपविभाग हो सकते हैं—चमारों की बोली तथा अन्यों की बोली । इन दोनों बोलियों में एक अन्तर समस्त खड़ी बोली क्षेत्र में मिलता

है : । ल । + व्यंजन अन्यों की बोली में मिलता है, पर चमारों में यह व्यंजन-संयोग है ही नहीं । इसके स्थान पर ।न् । + व्यंजन मिलता है । जैसे—

अन्य	चमार	
। पल्टा ।	। पंटा ।	'पलटा'
। चल्ता ।	। चंता ।	'रीति-रिवाज'
। जल्दी ।	। जन्दी ।	'जल्दी'
। बेल्चा ।	। बेन्चा ।	'बेलचा'
। कल्सा ।	। कन्सा ।	'कलश'
। झल्सा ।	। झंसा ।	'जलसा'

चमारों और अन्यों की बोली में और भी अन्तर हैं । जिले की पूर्वी सीमा से पश्चिम की ओर चलने पर ये अन्तर अधिक से अधिकतर होते जाते हैं । अन्तर की अधिकता और न्यूनता की दृष्टि से पड़ी बोली क्षेत्र की बोली को तीन उपविभागों में विभक्त किया जा सकता है : पूर्वी—पड़ी बोली (पू० प० बो०) मध्य पड़ी बोली (म० प० बो०) तथा पश्चिमी पड़ी बोली (प० प० बो०) ।

(क) **पू० प० बो०**—यह भाग मथुरा जिले के दक्षिण-पूर्वी भाग में है । इसके उत्तर में जिला अलीगढ़ पूर्व में जिला एटा और दक्षिण में जिला आगरा है । इस भाग में चमार और अन्यों की बोली में केवल एक ही अन्तर पाया जाता है । इसका ऊपर उल्लेख हो चुका है (१.३.१) ।

(ख) **म० प० बो०**—यह भाग मुख्यत: यमुना के पूर्व में है । इसके उत्तर में पश्चिमी पड़ी बोली का क्षेत्र, पूर्व में पू० प० बो० का क्षेत्र और जिला अलीगढ़ है । इस भाग में चमारों और उच्च वर्णों की बोली में अन्तर इस प्रकार मिलता है—

१. । र् । + व्यंजन अन्यों की बोली में मिलता है, किन्तु चमारों की बोली में । र् । का समीकरण संयुक्त व्यंजन के साथ हो जाता है । जैसे—

अन्य	चमार	
। मिर्च ।	। मिच्च ।	'मिरच'
। पार्छौ ।	। पाच्छौ ।	'पारछा'
। कर्जु ।	। कज्जु ।	'करजा'
। बर्त ।	। बत्त ।	'बरत'
। दर्दु ।	। दद्दु ।	'दरद'
। बर्द्ध ।	। बद्धु । ⁀ । बद्दु ।	'बैल'
। बर्स ।	। बस्स ।	'वर्ष'

२. । य् + य् । = । य्य । तथा । व् । + । व् । अन्यों की बोली में मिलते हैं, पर चमारों में नहीं ।

अन्य	चमार
[भैय्या]	। भग्या ।⌣। भईग्या । 'भाई'
[गैय्या]	। गग्या ।⌣। गईग्या । 'गाय'
[कौव्वा]⌣[कऊवा]	। कग्वा ।⌣। कऊग्वा । 'कौआ'
[नौव्वा]	। नग्वा ।⌣। नऊग्वा । 'नाई'

३. अन्य पुरुष एक० सर्वनाम के रूप में भी भिन्नता मिलती है। इस स्तर पर अन्यों की पुरानी पीढ़ी तथा चमार समान हैं तथा नवीन पीढ़ी और चमारों की बोली में अन्तर है। जैसे—

अन्य	अन्य	चमार
[नई पीढ़ी]	[पुरानी पीढ़ी]	
। बु ।	। गु ।	। गु । 'वह'
[व्वा]	[ग्वा]	[ग्वा] 'उस'
। बें ।	[ग्वे]	[ग्वे] 'वे'
। जि ।	। गि ।	। गि । 'यह'
। जा ।	[ग्या]	[ग्या] 'इस'

४. उत्तम पुरुष एक वचन के रूप की दृष्टि से पूर्वी भाग शुद्ध । हूँ । वाला क्षेत्र है तथा म० प० बो० भाग मिश्रित है । मैं ।⌣। हूँ । यहाँ भी म० प० बो० भाग की पुरानी पीढ़ी चमारों के समान है।

५. **क्रिया :** क—स्वरान्त धातुओं के अनिश्चित वर्तमान काल के रूप चमारों में अनानुनासिक हैं तथा अन्यों में सानुनासिक। जैसे—

अन्य	चमार
√ख—से । खाँतु ।	। खातु । 'खाता'
√आ—से । आमतु ।	। आबतु । 'आता'
√पी—से । पीमतु ।	। पीबतु । 'पीता'
√लै—से । लैंतु ।	। लेतु । 'लेता'
√कँहै—से । कँहैंतु ।	। कँतु ।⌣। कँहैतु । 'कहता'

(ख) व्यंजनान्त धातुओं के भूतकालिक कृदन्त एक वचन में भी अन्तर है। अन्यों की बोली में धातु + ।-यौ । मिलता है तथा चमारों में धातु + ।-औ । जैसे—

अन्य	चमार
√देख्—से । देख्यौ ।	। देखौ । 'देखा'
√कर्—से । कर्यौ ।	। करौ ।

(ग) **पश्चिमी खड़ी बोली**—यह क्षेत्र विशेषतः यमुना के पश्चिम में है। कुछ भाग यमुना के पूर्व में माँट तहसील के सुरीर के पास से होकर अलीगढ़ जिले की उत्तरी पश्चिमी सीमा को स्पर्श करता है। इस भाग में चमार तथा अन्यों की बोली में

वे ही अन्तर विद्यमान हैं जो मध्य प० बो० के अन्यों और चमारों की बोली में विद्यमान हैं। एक अन्तर इसे पूर्वी पड़ी बोली तथा मध्य पड़ी बोली से पृथक करता है। यह अन्तर प्रत्ययों का है। । उ । प्र० एक० कर्ता० वर्त० तथा । अ । प्र० बहु० कर्ता० वर्त० अन्य दो उपविभागों में मिलते हैं पर पश्चिमी प० बो० में नहीं। जैसे—

अन्य उपविभाग	पश्चिमी पड़ी बोली
। हम जाँत एँ ।	। हम जाँतें । 'हम जाते हैं'
। तू जाँतु एँ ।	। तू जाँतै । 'तू जाता है'
। बु जाँ तु एँ ।	। बु जाँतै । 'वह जाता है'
। बे जाँत एँ ।	। बे जाँतें । 'वे जाते हैं'

उत्तम पु० एक वचन में कोई अन्तर नहीं है। मध्यम पु० बहु० वचन का रूप भिन्न है, यद्यपि । अ । प्रत्यय का लोप दोनों में हो जाता है। जैसे—

। तुम जाँतौ ।	। तुम जाँतें । 'तुम जाते हो'

उत्तम पुरुष एक वचन के रूप का अन्तर यह है—

अन्य क्षेत्र	पश्चिमी प० बो०
। मैं । ‿ । हूँ ।	। मैं । 'मै'

१. ३. २. ठाड़ी बोली क्षेत्र के उपविभाग

इस क्षेत्र के रूप-वैविध्य जाति गत दीखते हैं। जातीय आधार पर इस भाग को चार उपविभागों में विभक्त किया जा सकता है : गूजर-बोली, जाट बोली, ठाकुर-बोली तथा मेव-बोली।

(क) **गूजर-बोली**—गूजरों के गाँव बरसाने की पहाड़ी के नीचे होते हुए राजस्थान में जा मिलते हैं। बरसाने के पास ऊँचा गाँव, डभारा, राँकौली और हाथिया गाँव मुख्यतः गूजरों के हैं। यमुना के पश्चिमी किनारे से लगे हुए छाता तहसील में ये गाँव हैं : लाड़पुर, बाहराली, पैंगरी, करहवारी, जटवारी, हुसैनी, खुरसी, उझानी, बड़वाई बसई, गढ़ी, अस्तौली, धीमरी, गुलालपुर, मझोई। गूजरों के जाने-अनजाने इतना ज्ञान है कि उनकी बोली जाटों और ठाकुरों से भिन्न है।

(ख) **जाट बोली**—एक वृद्ध जाट से पूछने पर ज्ञात हुआ कि इस क्षेत्र में जाटों के पाँच मुख्य गोत्र हैं : नंदगाँव के लौहकने, पैंगाम के रावत, बठेन के गठौने कामरि के बहनवार, तथा दहगाँव के डींड़े। जाटों के अन्य मुख्य गाँव ये हैं : जाब गिड़ोह, बदनगढ़ साँचौली, खिटावतौ, महारानौ, सिरतरा, पीपरवारौ, कार्योनौ। जाटों की पालि आगे गुड़गांवाँ, मेरठ, बुलन्दशहर, की ओर चली गई है। पड़ी बोली क्षेत्र में भी उनके गाँव हैं, पर बोली की दृष्टि से वहाँ ये उल्लेखनीय नहीं हैं। माट तहसील का उत्तरी भाग जो खड़ी बोली भाग में है वहाँ के जाटों की बोली ठाड़ी बोली वाले भाग की बोली के समान है। अन्य स्थानों के जाटों की बोली पड़ी बोली के समान हैं। फिर भी वहाँ की जनता जाटों की भाषा के ठाड़ेपन को अनुभव करती है। यह ठाड़ापन शिष्टाचार गत है, भाषागत नहीं।

(ग) **जादों ठाकुर**—ठाड़ी बोली क्षेत्र में जादों लोगों के मुख्यतः ये गाँव हैं। हातिया, कमई, करहला, चिकसौली, संकेत, गाजीपुर, आजनौंख लोधौली, पिसायौ, भड़ोई, रहेरा, उभरायौ, अरबाई, साँखी, नरी, सेमरी, डिरावली, देवपुर, ततारपुर, छाता, मुखरारी, बरकौ, धानौ तौ, रूपनगर, खैरार, बढ़ा, सहजादपुर, रनवारी, पश्चिमी प० के० क्षेत्र में पाली, कोन्हई (तहसील मथुरा)। पड़ी बोली क्षेत्र में एक गाँव है। बन्दी। इनकी बोली को जाट और गूजर दोनों ही अपनी से पृथक बताते हैं।

(घ) **मेव बोली**—मेवों की मुख्य बस्तियाँ हाथिया, जँघावली (छाता) तथा ढँसेरस (मथुरा) में हैं। इन स्थानों पर छुटपुट बस्तियाँ और हैं : सहार का नगला मँड़ोरा ल्हचोड़ा, अकातियों का नगला, दौताना, साँचौली, इमामखाँ का नगला, करहारी, पेंगरी, (छाता) जलालपुर, त्रिसम्मरा, छोंकरवास, कैरियान की गढ़ी, बँड़ा का नगला, इन की बोली निश्चित रूप से सबसे पृथक है। पर इनकी बोली का सर्वेक्षण नहीं किया गया।

(ङ) **गूजर, जाट और जादों की बोलियों का अन्तर**—१. ध्वनियों की दृष्टि से तीनों की प्रवृत्तियाँ समान हैं। मुख्य प्रवृत्तियाँ ये हैं।

अ—प० बोली में जिन शब्दों में स्वर मध्यवर्ती । च् । मिलता है, वहाँ इन तीनों बोलियों में । स्—। मिलता है जैसे—साँचौली । = । साँसौली । ⌣ । साँस्यौली । 'साँचौली । सोचिवौ । = । सोसिवौ । 'सोचना।'

आ—।क्। को ।ख। करने की प्रवृत्ति मिलती है। प० बोली का ।क्। इसमें मुख्यतः ।ख्। मिलता है। जैसे—।किस्सा । = । खिस्सा । 'क़िस्सा' । मुलाकाति । = । मुलाखाति । 'मुलाक़ात' । चौकीदार । = । चौखीदार । 'चौकीदार'

इ—आरंभिक ।उ। संख्यावाचक विशेषणों में प० बो० में मिलता है तथा उ० बो० में ।गु। मिलता है। इस दृष्टि से तीनों बोलियाँ समान हैं। जैसे ।उन्नीस। गुन्नीस।, 'उन्नीस' ।उन्तीस। = ।गुन्तीस। 'उन्तीस' ।उन्तालीस। = ।गुन्तालीस। 'उन्तालीस' ।उनंचास। = ।गुनंचास। 'उनंचास' ।उन्हैत्तरि। = ।गुन्हैत्तरि 'उनहत्तर' ।उन्यासी। = ।गुन्यासी। 'उन्यासी'।

ई—गूजरों की बोली में ।आ। जिन स्थानों पर मिलता है वहाँ जाटों की बोली में ।औ। मिलता है। इस दृष्टि से जादों गूजरों के समकक्ष हैं।

गूजर	जाट	
। कहा कामैं ।	। कहा कौमैं ।	'क्या काम है ?'
। राम् राम सा ।	।रौम् रौम् साब।	'राम राम साहब।'
। खानैं ।	। खौनैं ।	'खान है'

२. संज्ञा की रूप रचना जाट और गूजरों में समान है। पर जादों—बोली में ।उ। पु० एक० कर्ता वर्त० तथा ।-अ। इसका बहुवचन रूप में मिलते हैं। जादों—जाट = ।घर्। एक० तथा बहु० जादों ।घरु। एक वचन तथा ।घर। बहुवचन।

एक ही वस्तु के द्योतक कुछ शब्द दोनों जातियों की बोली में नियमित रूप से भिन्न हैं। जैसे—

गूजर	जाट	
। ढोर् ।	। चौपे ।	'चौपाये'
। पाम् ।	। पाव ।	'पैर'
। डाइरिबो ।	। लाइरिबो ।	'डालना'

३. अन्य पुरुष सर्व नाम रूपों में जाटों तथा गूजरों की बोली बहुधा समान तथा जादों-बोली सर्वथा भिन्न हैं। जादों बोली के ये सर्वनाम जादों बोली को पड़ी बोली के समकक्ष रख देते हैं। नीचे तुलनात्मक सूची दी जाती है—

गूजर	जाट	जादौं	प० बो०	
। ऊ ।	। ऊ ।	। गु । ⌣ । बु ।	। गु । ⌣ । बु ।	'वह'
। वा ।	। वा ।	। ग्वा । ⌣ । वा ।	। ब्वा । ⌣ । ग्वा ।	'उस'
। ई ।	। यो ।	। गि । ⌣ । इ ।	। जि । ⌣ । गि ।	'यह'
। ये ।	। यू ।	। गे ।	। जे । ⌣ । गे ।	'ये'
।या।	। या ।	। ग्या । ⌣ । या ।	। जा । ⌣ । ग्या ।	'इस'

गूजर और जाटों की बोली में अन्तर नगण्य सा है। केवल । यो ।, । यू । जाटों की बोली की विशेषता है। किन्तु जादों-बोली पड़ी-बोली के समकक्ष है। रूपांतर ठाडी बोली के मिलते हैं। ।ग। वाले दोनों रूप पड़ी बोली के पूर्वी भाग में है। बीच में मध्य पड़ी बोली मिलती है जहाँ ।ब। और ।ग्। वाले दोनों रूप प्राप्त होते हैं। फिर शुद्ध ।ब्। वाले रूप वाला पश्चिमी प० बो० है। इन दो पट्टियों को पार करके जादों ठाकुर पूर्व से पश्चिम की ओर अग्रसर रहे हैं।

४. **क्रिया रूपों की भिन्नता**-क-√हो के कृ० रूप जाट और गूजरों में बहुधा समान हैं। जादों-बोली में इनसे कुछ भिन्नता है—

	गूजर जाट	जादौं	प० बो०	
भू० कृ०	। हुवौ । ⌣ । हुयौ ।	। भयौ ।	। भयौ ।	'हुआ'
	। हुई ।	। भई ।	। भई ।	'हुई'
	। हुवे । ⌣ । हुये ।	। भए ।	। भए ।	'हुए'
वर्त० कृ०	। है ।	। हतै ।	। हतुऐ ।	'है'
	। हे ।	। हते ।	। हतए ।	'थे'

इस दृष्टि से भी जादों प० बोली के समकक्ष रहे।

ख—क्रिया के रूप गूजर और जाटों में पु० लिंग द्योतक ।औ। से युक्त होता है। जादों की बोली में ।-ओ। का संयोग रहता है। जैसे—

गूजर—जाट	जादों	प० बो०	
। जांगौ ।	। जांगो ।	। जांगो ।	'जाऊँगा'
। दंगौ ।	। दुंगो ।	। दुंगो ।	'दूँगा'
। दीजौ ।	। दीजो ।	। दीजो । ⌣ । दीयो ।	'देना'

यहाँ भी जादों-बोली प० बो० के समकक्ष है।

(ग) वर्त० एक० संयोजक क्रिया गूजरों में ।है। 'है' है। जादों में भी यही रूप है। पर, जाटों में ।ह्वै। रूप मिलता है। जैसे—। ह्वाँवाँ गानो ह्वै रौ। 'वहाँ गाना हो रहा था' ।त्यार ह्वै लीजौ। तू तैयार हो लेना।'

५. **क्रिया विशेषण**—कुछ क्रि० वि० जाट और गूजर बोली में भिन्न हैं। जादों इस दृष्टि से गूजरों के समकक्ष हैं। जैसे—

गूजर	जाट	
। ह-याँ ।	। हियाँ ।	'यहाँ'
। ह्वाँ ।	। हुवाँ ।	'वहाँ'
+ ×	। हियाँ सीकन ।	'यहाँ'
×	। हुवाँ सीकन	'वहाँ'
। ताँई ।⌣। तानी ।	। लौं ।	'तक'—।अब लौं। 'अब तक'
। काज ।⌣। काजैं ।	। लैंयाँ ।	'लिये'
। इतकूँ।	।इत्कर।	'इधर'
।कित्कूँ।	। कितक्कर ।	'वहाँ होकर'
। ह्वाँ हैकैं ।	। हुवाँ कर ।	'वहाँ होकर'

निष्कर्ष—जाट और गूजर अधिकांश बातों में समान हैं। जादों बोली में कुछ रूप प० बो० के प्रचलित हैं। जिन दृष्टियों में जाट और गूजर भिन्न हैं, उनमें जाट गूजरों के साथ हैं।

मेव—मेव मथुरा ज़िले की एक मुसलमान जाति है। मेवों के गाँवों की अन्य जातियाँ इन्हें अत्यन्त सीधा कहती हैं। ये लोग अधिकांश अशिक्षित हैं। स्त्रियों का पहनावा मुसलमानी ढंग का है: कुर्ता और सलवार। पुरुषों का पहनावा अन्यों से भिन्न नहीं है। मेवों ने अपना इतिहास बताया कि हम ६८६ वर्ष पूर्व मुसलमान हुए थे। राजगढ़ (जैपुर) का कन्हैया नामक 'जगा' (वंशावली बखानने वाला) आता है। अधिकांश ने यह बताया कि हमारा 'निकाड़' (उत्पत्ति) मथुरा से है और हम यदुवंशी हैं। इन्होंने कहा कि हमारे ५२ गोत्र हैं। इनमें से कुछ ये हैं: चौपाड़, छिरकलौत, पूंगलौत, बालौत, दूलौत, डेमरौत, सींगल, गोरवाड़, सौगण, दैंड़वाड़, धंगड़, पाहट, बाघौड़िया, तूमर, गूमल, बड़ गूजर आदि। गोत्रों से ज्ञात होता है कि ये सभी पहले राजपूत थे।

मेव की बोली—इस बोली का व्याकरणात्मक ढाँचा प्रायः ठाड़ी बोली के समान है। किन्तु कुछ अन्तर भी हैं। कुछ ध्वन्यात्मक अन्तर इसको शेष मथुरा ज़िले की बोली से पृथक करते हैं।

१.ध्वनि संबंधी विशेषता क—मथुरा ज़िले की किसी भी अन्य बोली में [ण] नहीं मिलता। पर मेवों की बोली में इस ध्वनि का प्रयोग स्वरमध्यवर्ती अथवा अन्य रूप में होता है। जैसे। कौंण। 'कौन'। ठिकाणौं। 'ठिकाना'।

ख—ठाड़ी बोली में जहाँ। ल्। अथवा। '-र्। आता है। वहाँ मेवों की बोली में। -ड़्। का प्रयोग होता है। जैसे—

अन्य	मेव	
। दिवाली । ~ । दिवारी ।	। दिवाड़ी ।	'दिवाली'
। सालौ । ~ । सारौ ।	। साड़ा ।	'साला'
। साली । ~ । सारी ।	। साड़ी ।	'साली'
। हल । ~ । हर ।	। हड़ ।	'हल'
। बालक । ।	। बाड़क ।	'बालक'
। गलौ । ~ । गरौ ।	। गड़ा ।	'गला'

ठाड़ी बोली में । ड़ । का प्रयोग किन्चित मात्र नहीं है । पड़ी बोली में । -ड़ । का प्रयोग बहुत कम मिलता है । मेवों की बोली में इसका प्रयोग बहुत है ।

२. **क्रिया**—(क) । ठाड़ी बोली में । रहिबौ । ~ । । रहैबौ । क्रिया संयुक्त क्रिया का अंग बन कर आती है तो मेवों की बोली मे । रॉं । रूप ग्रहण करती है । जैसे—

ठा० बो०	मेव-बोली	
। बोल् रहे ।	। बोल्राँ ।	'बोल रहे'
। माँग रहे ।	। माँगराँ ।	'माँग रहे'
। पूछ रहे ।	। पूछराँ ।	'पूछ रहे'

ख —भविष्य आज्ञावाचक, जैसे । जईयो । 'जाना' ठा० बो० । जईयौ । मेवों की बोली मे । जायौ । 'जाना' मिलता है । । अईयो । ~ । आयौ । 'आना' ।

ग—भूत कालिक संयोजक क्रि० एक० । ओ । ठा० बो० । औ । 'था' मेव-बोली मे । हा । ~ । आ । रूप में मिलती है ।

घ—ठाड़ी बोली में तथा पड़ी बोली में भी क्रिया का भूत कालिक कृदन्त । औ । (एक० पु०) प्रत्यय धारण करता है । बहु० वच० में । -ए । प्रत्ययका योग होता है किन्तु मेव-बोली में । -आ । एक० वच० । आँ । बहु० वच० प्रत्यय जोड़े जाते हैं । जैसे—

प० बो०	ठा० बो०	मेव० बो०	
। भयौ ।	। हुयौ । ~ । हुवौ ।	। हुया ।	'हुआ'
। भए ।	। हुये । ~ । हुवे ।	। हुयाँ ।	'हुए'

संज्ञा के साथ भी येही प्रत्यय प्रयुक्त हो सकते हैं । जैसे—। तेरा छोरा । ठा० बो० तेरौ छोरा । 'तेरा लड़का' । तेरा छोराँ । 'तेरे लड़के' । तिर्यक रूप में भी । -ए । नहीं मिलता ।

३. **क्रिया-विशेषण**—मेवों की बोली में कुछ क्रिया विशेषण ठाड़ी बोली से भिन्न हैं ।

क. स्थान वाचक—। हींन । 'यहाँ', । हूँन । 'वहाँ' । अगाल् । 'आगे से' । पिछालू । 'पीछे से मेवों में मिलते हैं खड़ी बोली में नहीं । उरै । 'इधर' ।

ख. काल वाचक—। कदी । 'कभी' । कदी भदी । 'कभी जभी' ।

ग. रीति वाचक—। ऐसाँ । ठा० बो० । ऐसैं । 'ऐसे'; । यूँ ।ــ। नूँ । रूप भी मिलते हैं ।

४. **अन्य चिह्नों का अन्तर**—ठाड़ी बोली में करण चिन्ह । से ।ــ। ते । जाट । सौं । 'से' मिलता है । पर मेवों की बोली में । सूँ । रूप प्राप्त होता है । कर्म-चिन्ह । कूँ । 'को' के स्थान पर मेवों की बोली में । लूँ । मिलता है । जैसे—। मोलूँ । 'मुझको' । तोलूँ । 'तुझको' ।

यही मोटे-मोटे अन्तर हैं जिनके आधार पर मेवों की बोली अलग मानी जा सकती है ।

१४. नगर की बोली तथा चौबों की बोली

नगर की बोली अधिकांशत: ठाड़ी बोली के समकक्ष आती है । वैसे नगर की बोली प्रस्तुत अध्ययन की सीमा से बाहर है । नगर मे बोलियों के कई रूपान्तर मिलते हैं । चौबों की बोली का सामान्य परिचय यहाँ दे दिया जाता है ।

१. **रहस्यमयीबोली**—भी चौबों में प्रचलित है । विशेषत: संख्या द्योतन के लिए प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है । जैसे—नेत्र = ३, पाए = ४, हत्तू = ५, ऋषि = ७, वर्ग = ८, ग्रह = ९, सूतरी भर = २०, छदाम भर = २५, टाले भर = ५०, गजभर = १००, माँसौ = चवन्नी, टाली = अठनी, बेदी = दुअन्नी, छपका = रुपया । कुछ खाद्य सामग्री के भी प्रतीक हैं । जैसे—घासीराम = घी, चुन्नीलाल = चून, डालचन्द = दाल, आदि ।

२. **ध्वनियों की विशेषताएँ**—क—।व। ध्वनि प्राप्ति होती है । जैसे—।वाइ। 'उसे' ।वे। 'वे' ।वौ। 'वह' ।

ख—।ऊँ। का प्रयोग जहाँ 'ठाड़ी बोली' में होता है वहाँ चाबों की बोली में । ओं । का प्रयोग होता है । जैसे—।जाँऊँ। के स्थान पर ।जाँओं। 'जाता हूँ' ।कूँ। के स्थान पर ।कौं। 'को' 'सूँ'। के स्थान पर ।सौं। 'से' ।

ग—।ओ। ।ऐ। से पूर्व प्रयुक्त होने पर ।उ। हो जाता है । जैसे—।गयौ। से ।गइऐ। 'गया है' ।

३. **संज्ञाओं की रूपरचना**—ठाड़ी बोली की भाँति व्यंजनान्त संज्ञाएँ ।उ। एक० पु० तथा ।अ। बहु० पु० प्रत्ययों को कर्ता कारक में स्वीकार नहीं करती । केवल एक ही रूप कर्ता कारक में प्रयुक्त होता है । बहु वचन रूप तिर्यक रूप रचना में मिलता है ।अन्। प्रत्यय का योग होता है ।

एक०		बहु०	
। घर् ।	'घर'	। घरन ।	'घरों'
।गाम् ।	'गाँव'	। गामन् ।	'गावों'

ओकारान्त, तथा आकारान्त संज्ञाएँ अन्य बोलियों में कर्ता कारक में एक० बहु० में एकसी रहती हैं । पर चौबों की बोली में ।एँ। जोड़कर उनको भी बहुवचन कर देने की प्रवृत्ति दीखती है । जैसे—लड्डुआ । 'एक० से ।लड्डुआऐं। ।पेड़ा। से ।पेड़ाऐ। 'पेड़े'

।चीतौ। से ।चीतेऍं। 'चीते' ।कभी ऐसी संज्ञाओं को भी बहुवचन रूप प्रदान कर दिया जाता है जिनको अन्य बोलियों में एक वचन में ही रखा जाता है जैसे—मैदान की पूरी। 'मैदा की पूड़ी। आलून् के साग। 'आलू का साग'।

४. **सर्वनाम रूप**—

उत्तम पु० एक० । मैं । , । मेरौ । , । मोइ ।⟶। मोकौं । 'मैं, मेरा, मुझे'
　　,, बहु० ।हम। , ।हमारौ। , । हमैं ।⟶। हम्कौं। 'हम, हमारा, हमको'
मध्य० पु० एक० । तू । , । तेरौ । , । तोइ ।⟶। तोकौं। 'तू, तेरा, तुझको'
　　,, बहु० ।तुम। , ।तुमारौ। , । तुमैं ।⟶।तुम्कौं। 'तुम, तुम्हारा, तुमको'
अन्य० पु० एक० ।बौ। , ।वाकौ। , । वाइ ।⟶। वाकौं। 'वह, उसका, उसको'
　　,, बहु० । वे। , ।विनकौ। , । विनैं ।⟶। विनकौं। 'वे, उनका, उनको'
संकेत० एक० । यै। , । याकौ। , । याइ ।⟶। याकौं। 'यह, इसका, इसको'

५. **क्रिया**—

क—संयोजक क्रिया—वर्त० एक० । ऐ । 'है' वर्त० बहु० । ऐं। वर्त० एक० उत्तम पु० । औं । 'हूँ' मध्यम पु० बहु० वर्त० । औ ।, 'हो' भू० एक० । हो ।⟶। ओ । 'था' भू० बहु० । हे ।⟶। ऐ। 'था'।

ख—भू० कृ० अन्य बोलियों की भाँति औकारान्त ही है। जैसे । गयौ । 'गया' । आयौ । 'आया' । लीयौ ।⟶। लीनौं । 'लिया' । दीयौ ।⟶। दीनौं। 'दिया'।

व्यंजनांत धातुओं के साथ । यौ । का संयोग करके पूर्वी पड़ी बोली के अतिरिक्त सभी बोलियों में भू० कृ० की रचना की जाती है। पर नगर की बोली तथा चौबों की बोली में । -यौ। के स्थान पर पूर्वी पड़ी बोली की भाँति केवल । -औ। का संयोग भू० कृ० की रचना की जाती है। जैसे—। कर्यौ। के स्थान पर । करौ। 'किया'। धर्यौ। के स्थान पर । धरौ। 'रक्खा'। बन्यौ। के स्थान पर । बनौ। 'बना'।

क—वर्त० अनिश्चयार्थक रूप ठाड़ी बोली की भाँति मिलते हैं। जैसे—। मैं जाँऔं। ठा० बो०। मै जाँऊँ। 'मैं जाता हूँ'। हम जाँऐं। 'हम जाते हैं'। तुम जाऔ। 'तुम जाते हो'। बु जाऐ। 'वह जाता है'।

ख—भू० अनिश्चयार्थक रूप पड़ी बोली के अधिक समीप हैं। जैसे—

नगर तथा चौबे	प० बो०	ठा० बो०
। कैतो ।⟶। कइतो ।	। कैहैं तो ।	। कहै ओ । 'कहता था'
। रोतो ।⟶। रोउतो ।	। रोम तो ।	। रोबै ओ। 'रोता था'
। जातो ।⟶। जातौ ।	। जाँ तो ।	। जाऐओ। 'जाता था'

ख—√हो के रूप भी प० बो० के अधिक समीप हैं। जैसे—

नगर तथा चौ०	प० बो०	ठा० बो०
। भयौ ।	। भयौ ।	। हुयौ ।⟶। हुवौ। 'हुआ'
। भई ।	। भई ।	। हुई ।⟶। हुयी । 'हुई'
। भए ।	। भए।	। हुए ।⟶। हुये। 'हुए'

ग—हकरान्त धातुओं के हकार के लोप की प्रवृत्ति मिलती है। जैसे—√ कह्-से। कइ। 'कह।'। कइदै। 'कहदे'। कयौ। 'कहा'। √ रह-से। रयौ।~। रौ। 'रहा'। रई। 'रही' आदि। ठा० बो० में हकार अपने से पूर्व व्यंजन में मिलता है जैसे। खँ। 'कहा'। खँदै। 'कहदे'। खयौ। 'कहा'। र्ह्यौ। 'रहा'। र्ही। 'रही' आदि।

घ—वर्त० का० कृदन्तों के रूप नगर तथा चौबों की बोली में ठा० बो० से अधिक मिलते-जुलते हैं। जैसे—

नगर तथा चौ०	ठा० बो०	प० बो०
। जातौ ।	। जातौ ।	। जाँतु ।~। जाँतौ । 'जाता'
। खातौ ।	। खातौ ।	। खाँतु ।~। खाँतौ ।~। खाँमतौ । 'खाता'
। पीतौ ।	। पीतौ ।	। पीमतौ । 'पीता'
। रोते ।	। रोते ।	। रोमत । 'रोते'
। सोते ।	। सोते ।	। सोमत । 'सोते'

६. क्रि० **विशेषण**—स्थान वाचक और निषेधार्थक क्रिया विशेपणों में कुछ अन्तर मिलता है। स्थान वाचक क्रि० वि० अधिकांश में ठा० बो० से मिलते-जुलते हैं।

	नगर तथा चौ०	ठा० बो०	प० बो०
	। ह्याँ ।~। हियाँ ।	। ह-याँ ।	। न्याँ । 'यहाँ'
	। म्हाँ ।	। ह्वाँ ।	। म्वाँ । 'वहाँ'
दिशा सूचक :	। इत्तिन ।	। इत्में ।	। इतमें । 'इधर'
	। बित्तिन ।	। बित्में ।	। बितमें ।~। उतमें ।'उधर'

निषेधार्थक। नाँइँनें। चौबों की बोली की विशेषता है जो अन्य बोलियों में नहीं मिलती।

७. **कारक चिह्नों**—में कोई विशेषता नहीं मिलती। केवल करण चिह्न। ते ।~। से ।~। सूँ। 'से' चौबों की बोली में। सौं। मिलता है।

जे० पार्थसारथि

द्रविड़ भाषा-शास्त्र की भूमिका

भाषा-परिवार

अठारहवीं सदी के बाद से पाश्चात्य देशों में भाषा-विज्ञान के गंभीर अध्ययन की परंपरा चली आयी है, और इसके परिणामस्वरूप, संसार की विविध भाषाओं के सम्बन्ध में आज बहुत कुछ सामग्री संगृहीत हो गई है। संपूर्ण जगत् की भाषाओं का परिचय हमें प्राप्त हो चुका है, फिर चाहे वह कुछ अन्शों में अधूरा ही क्यों न हो। विश्व की भाषाओं के विभाजन हम कैसे करें ? इस विभाजन के आधार पर मतभेद हो सकता है। केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से, हम यहाँ १५ भाषा कुटुम्बों की सूची[1] दे रहे है, जो साधारणतः स्वीकृत है:—

१. इंडो यूरोपियन (Indo-European)—जिसमें जर्मनी, केल्टिक, रोमान्स, स्लाविक, बाल्टिक, इंडो-इरानियन, टोकेरियन, अनाटोलियन आदि उप-भाषा-समूह सम्मिलित हैं।

२. फिन्नो-उग्रियन (Finno-Ugrian)—जिसमे फिन्निष्, एस्टोनियन, हंगेरियन तथा उत्तर-यूरोप वाली अन्य गौण भाषाएँ हैं।

३. यूराल-आलटैयिक (Ural-Altaic)—जिसमें तुर्की, किर्गिज़, मंगोलियन, आदि भाषाएँ हैं।

४. काकेशियन (Caucasian)—जो रूस के दक्षिण वाले "काकसस्" प्रदेश की बोलियों का सामूहिक नाम है।

५. बास्क (Basque)—जो स्पेन तथा फ्रांस के सीमावर्ती पहाड़ों पर, बिना किसी भाषा-कुटंब के सम्बन्ध के बोली जाती है।

---

१. देखिए: P. D. Gune An Introduction Comparative Philology. P. 89.
H. A. Gleason: An Introduction to Descriptive Linguistics. P. 350.

६. सेमेटिक (Semitic)—जिसमें हीब्रू अरबी तथा एतियोपियन भाषाएँ आधुनिक बोलचाल में भी जीवित हैं, तथा असीरियन, सुमेरियन, आरमेयिक, फ़िनीसीयन आदि महत्त्वपूर्ण भाषाएँ पुरानी 'क्लासिकल' श्रेणी की हैं ।

७. हेमिटिक (Hemitic)—जिसमें इजिप्षियन, बर्बर, कुषिटिक, तथा चाड नामक अफ्रीकी भाषाएँ सम्मिलित हैं ।

८. बन्टू तथा अन्य अफ्रीकन (Bantu and Other African)—जिसमें 'बन्टू' उप-समूह तथा सूडान, नैजीरिया, आदि अन्यान्य अफ्रीकी परिवार सम्मिलित हैं ।

९. जापानी (Japanese)—जो एक अलग भाषा है और किसी भाषा-परिवार के अन्तर्गत नहीं आती ।

१०. कोरियाई (Korean)—जापानी की ही भाँति एक प्रथक भाषा ।

११. सैनो-तिबेतन (Sino-Tibetan)—जिसके अन्तर्गत चीन, तिबत तथा वर्मा की भाषाएँ आती हैं ।

१२. द्राविडियन (Dravidian)—जो भारत में प्राय: दक्षिण और उत्तर में कई पहाडी प्रदेशों में बोली जाती है ।

१३. आस्ट्रेलियन (Australian)—जिसमें आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों की बोलियाँ सम्मिलित हैं ।

१४. मलेयो-पालिनीषियन (Malayo-Polynesian)—जो मैडास्कर द्वीप से मलाया, सुमात्रा हवाय, आदि प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों में बोली जानेवाली भाषाओं का संग्रह है ।

१५. अमेरिकन-इंडियन (American-Indian)—जिसमें अमेरिका की आदिम जातियों की भाषाएँ आती हैं ।

इस वर्गीकरण में अनेक त्रुटियाँ अवश्य हैं। भाषा-सूचियों का संशोधन, सफल अन्वेषण के साथ ही साथ बराबर होता रहेगा। फिर भी संसार का भाषा-वैविध्य हमें इस सूची में देखने को मिल जाता है। इस विश्व भाषा-चित्र में अपनी व्यापकता, तथा बोलने वाली जातियों की महत्ता के कारण, इंडो-यूरोपियन परिवार को अग्रणी स्थान स्वत: प्राप्त होता है।

यह सर्वविदित है कि 'देववाणी' संस्कृत तथा उससे संबंधित उत्तर भारतीय भाषाएँ, 'इंडो यूरोपियन' के एक प्रमुख शाखा 'इंडो-आर्यन' के अन्तर्गत आती हैं। हमारे भारतवर्ष में, 'इंडो-आर्यन' भाषाओं के समान, अपनी विशेषताओं से संपन्न दूसरा भाषा-समूह है, द्राविड़-परिवार । संयोगवश द्राविड़ भाषा-परिवार को इतना विस्तृत अन्वेषण का श्रेय प्राप्त नहीं हो सका, जितना इंडो-यूरोपियन को । अब तक जो अन्वेषण हुआ है, उससे यह सिद्ध किया गया है कि द्राविड भाषाओं को पूर्ववत् इंडो-आर्यन शाखा से संबद्ध मानना ठीक नहीं है। उनका स्रोत पृथक है, यद्यपि सांस्कृतिक आदान-प्रदान में वे आर्य परिवार की गण्यमान्य संस्कृत भाषा से न्यूनाधिक निरंतर सम्बन्ध रखती आयी हैं। उत्तर हो, या दक्षिण हो, दोनों

में सांस्कृतिक परंपरा एक ही होने के कारण, दोनों भाषा-परिवारों में आपसी लेन-देन अत्यधिक मात्रा में चली आयी है। दक्षिण में वैदिक संस्कृति अनादि काल से स्वीकृत रही है। और शताब्दियों से सनातन धर्म को आदर-सत्कार मिलता रहा है। वेद-शास्त्र पाठ तथा संस्कृत की पढ़ाई, दोनों के लिये शासक बड़ा ही प्रोत्साहन दिया करते थे। ऐसी ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण, दक्षिणी भाषाओं के रूप-रंग में, उनके साहित्यिक विकास में संस्कृत का बड़ा हाथ अनिवार्यतः रहा था। इसी तरह संस्कृत ने द्राविड़ भाषाओं से शब्दावली, तथा व्याकरण नियमों को उधार ले लिया।[2]

'द्राविड़ियन' शब्द का प्रयोग

'द्राविड़ियन' शब्द का पहला प्रयोग, बि० एच० हाड्मन ने[3] किया था, जिन्होंने अधिक-से-अधिक सामग्री आर्येतर भाषाओं पर इकट्ठी की थी। इनकी सेवा सर्वथा प्रशंसनीय रही। बाद में द्राविड़ियन शब्द का व्यापक प्रचार ईसाई पादरी डा० काल्डवेल से ही हुआ। मद्रास प्रान्त के 'तिरुनेलवेलि' जिले में 'बिशप' (bishop) का स्थान इन्होंने आजीवन अलंकृत किया और अथक परिश्रम करके एक अद्वितीय तुलनात्मक व्याकरण सन् १८५६ में प्रस्तुत किया।

इनसे पूर्व, दक्षिण की भाषाएँ कभी 'मलबारिक', कभी 'तमूलियन' कहलाती थीं। भारतीय इतिहास में ख्यातिप्राप्त 'वास्कोडिगामा' केरल प्रांत में आ जाने के बाद, यूरोप के लोग उस प्रदेश से सुपरिचित होने लगे और उस प्रांत के नाम 'मलबार' के अनुरूप समस्त दक्षिणी भाषाओं को 'मलबारिक भाषाएँ' पुकारने लगे। दूसरी ओर भाषाविदों ने अपने अनुशीलन के आधार पर एक अलग नाम निकाल रखा था। 'तमूलियन' भाषा कुटुंब का यह नाम तमिल की प्राचीनता, सुव्यवस्थता, तथा अग्रगण्यता का द्योतक है। अगर दक्षिणी भाषाओं में कोई एक, अपनी अतिपुरातन मौलिक अभिव्यंजन पद्धतियों को सुरक्षित रखकर, मूलरूप की पर्याप्त झांकी देनेवाली है, तो वह अवश्य तमिल ही है। इस भाषा के बहुमुखी प्रभाव के कारण, उसके निकटवर्ती अन्य भाषाओं को भी 'तमूलियन ग्रूप' में शामिल कर देना बिलकुल स्वाभाविक ही था।

यद्यपि 'तमूलियन' शब्द सार्थक प्रतीत होता है तथापि, डा० काल्डवेल, विषय प्रतिपादन की 'सुगमता' के लिये दूसरे शब्द का सहारा लेना अधिक उचित समझते हैं। 'तमूलियन' नाम को तमिल भाषा के लिये पृथक करके, तत्संबंधी भाषा-समूह के लिये 'द्राविड़' शब्द का उपयोग वे पसन्द करते हैं। इस शब्द के व्यवहार में भी थोड़ी-सी कठिनाई है क्योंकि वह तमिल मात्र सूचित करने के लिये समय समय पर प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ, तमिल भाषा के आल्वार सन्तों के गीत 'द्राविड (तमिल) वेद'

---

२. संस्कृत में मूर्धन्य ध्वनियाँ द्राविड भाषाओं के प्रभाव-जन्य मानी जाती हैं। बहुत से 'द्राविड़' शब्द भी उधार लिये गये, जिनके प्रमुख उदाहरण 'नीर', 'मीन' हैं। देखिये : Grierson, Lingiuistic Survey, Vol. I. Pt I. p. 130-131. P. S. S. Sastri : An Enquiry into Sanskrit and Tamil. P. 28-30

३. Grierson, Ling. Survey I, 1. p 11 ff.

कहलाते हैं। इस कठिनाई के होते हुए भी डा० काल्डवेल इस शब्द को बहुत समीचीन मानते हैं। उनका कहना यों है:—

"मेरे द्वारा चुना गया शब्द 'द्राविडियन' है, यानी द्राविड संज्ञा का विशेषणवाला रूप। सच है कि यह 'द्राविड़' शब्द, सीमित अर्थ में केवल तमिल भाषा के लिये व्यवहृत हुआ है, और हो भी रहा है। इस प्रकार यह अस्पष्टता से बिलकुल निर्मुक्त नहीं होने पर भी, मेरे मत में सब से अच्छा शब्द है। यह संस्कृत के भाषशास्त्रियों द्वारा दक्षिण के लोग और उनकी भाषाओं को प्राय: पृथक रूप में सूचित करने के लिये एक साधारण सामूहिक नाम के तौर पर पहले से ही व्यवहृत हुआ है और केवल यही एक शब्द ऐसा मालूम होता है जिसका ये लोग इस अर्थ में प्रयोग करते थे। इसलिये इसको अपनाने की उपयुक्तता में मुझे कोई भी सन्देह नहीं है।

"'द्राविड' शब्द एक सामूहिक नाम के रूप में इस कारण भी उपयोगी सिद्ध है क्योंकि वह सामान्य व्यवहार में न मिलने से अस्पष्ट और संकेत पुष्ट है। इस शब्द के अपना लेने से 'तमिलियन' या (तमूलियन) शब्द, विशेष प्रकार से तमिल भाषा मात्र को इंगित करने के लिये स्वतन्त्र हो जाता है।"[४]

आगे, वे संस्कृत भाषाज्ञाताओं द्वारा प्रयुक्त 'द्राविड़' शब्द के कई उदाहरण हमारे सामने रखते हैं जिनसे वे स्पष्ट कर देते हैं कि इस नाम से उत्तरी लेखक साधारणत: दक्षिण प्रदेश तथा उसकी भाषा को समग्र रूप में सूचित किया करते थे। एक संस्कृतज्ञ, द्राविडों की भाषा को एक 'विभाषा' या 'गौण प्राकृत' कहते हैं। एक अन्य विद्वान, नाटकों में आने वाले द्राविड लोगों की बोल चाल की उपयुक्त बोली का नाम 'द्राविडी' बताते हैं। हिन्दी के भाषा शास्त्रि 'बाबू राजेन्द्रलाल मित्र' भी कहते हैं कि शौरसेनी के समान 'द्राविडी' भी एक स्वीकृत प्राकृत बोली है, जिससे कई आधुनिक भाषाओं का उद्गम हुआ। ऐसी उक्तियों में समस्त दक्षिणी भाषाओं को एक अनिश्चित नाम 'द्राविड' से पुकारने की चेष्टा विद्यमान है।[५]

'द्राविड़' नाम पर विचार करते हुए, डा० काल्डवेल इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि इस संस्कृत शब्द का रूपांतर 'तमिल' है। यह भी एक आश्चर्य है कि अपने जातिवाचक नाम के लिये दूसरे भाषाभाषियों पर तमिलवालों को निर्भर रहना था। असल में ऐसा है कि दक्षिण के प्राय: समस्त जातिवाचक नाम संस्कृत से लिये गये हैं, जैसे चोल, केरल, आंध्र, कलिंग, आदि। तमिल भाषा की ध्वनि प्रवृत्तियों के अनुसार, 'द्राविड़' शब्द का प्रथमवाला संयुक्त व्यंजन 'दिरमिड' होकर, बाद में 'ड' अक्षर के 'ळ' हो जाने से, 'दिरमिळ' बन जाता है। अगला परिवर्तन, 'दिरमिळ' को

४. Caldewell's "A comparative Grammar of the Dravidian Languages" (P. 4, 6.)

५. डा० काल्डवेल यह भी कहते हैं कि द्राविड़ भाषाएँ संस्कृत के विद्वानों से पैशाची प्राकृत के अन्तर्गत रखी जाती थीं और यह पैशाची प्राकृत स्वयं विभिन्न बोलियों का अवैज्ञानिक संमिश्रण था।

'दमिल' कर देता है, जिससे आधुनिक 'तमिल' नाम विकसित होता है। ध्वनि परिवर्तन का क्रम, संक्षेप में, द्राविड़→दिरमिड→दिरमिळ→दमिळ→तमिल है। वराहमिहिर के 'बृहत् संहिता' में 'द्रामिड' तथा तारानाथ कृत बुद्धमत इतिहास (ई० १५७३) में 'द्रामिळ' के रूप मिलते हैं। सिंहल द्वीप के इतिहास, 'महावंश' में तमिळ का रूप विद्यमान है। डा० काल्डवेल अनुमान करते हैं कि कदाचित् संस्कृत का 'द्राविड़' शब्द भी एक दक्षिणी देशज शब्द से उत्पन्न हुआ होगा, जिसका पता लगाना अब असंभव मालूम पड़ता है। तमिल भाषा के विद्वत्मनीषी इस राय के विपक्ष में हैं। उनका कहना है कि 'द्राविड़' नाम स्वयं 'तमिल' शब्द से उत्पन्न है। विख्यात 'भाषा कविशेखर' महाविद्वान श्री रा० राघवैयंगार के मतानुसार,[६] यह स्वाभाविक है कि संस्कृतवालों ने तमिल भाषी लोगों से परिचित होकर, उनके प्रचलित नाम को अपनी बोली में लाते समय, 'द्रमिळ' बना दिया होगा, जो बाद में 'द्राविड' हुआ। दृ (=दौड़ना) धातु के आधार पर 'द्राविड़' का तात्पर्य 'दौड़ा हुआ' होगा जो 'तमिल' शब्द के अर्थ 'माधुर्य' से बिलकुल भिन्न है। 'तोल्काप्पियनार' (तमिल भाषा के 'पाणिनि' समान वैयाकरण) भी कहते हैं कि 'तमिल' एक देशी शब्द है। तमिल साहित्य के अनेक प्रसंगों में तमिल वाणी की मधुरता के गुणगान से जो लोग परिचित हैं, उसको विश्वास नहीं होता कि 'दौड़ा हुआ' अर्थ देने वाला 'द्राविड़' शब्द को तमिल लोगों ने अपने जातिवाचक नाम के रूप में कभी स्वीकार किया होगा।

'द्राविड़' शब्द का औचित्य

अब यह तो स्पष्ट है कि 'तमिल' तथा 'द्राविड' दोनों शब्द अन्योन्याश्रित हैं तथापि इसमें मतभेद है कि किस से कौनसा शब्द निकला। हमने देखा कि दक्षिणी लोगों के लिए एक सामूहिक नाम के रूप में प्रयुक्त होने के कारण, डा० काल्डवेल ने इस शब्द का चुनाव किया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिन भाषाओं के लिए उन्होंने 'द्राविड़' नाम दे दिया है, वे न केवल दक्षिण की हैं बल्कि उत्तर भारत में भी काफी फैली हुई हैं। इसके अलावा, 'द्राविड़' शब्द का सामूहिक अर्थ के लिये जितने प्रमाण उपलब्ध हैं, उतने ही प्रमाण, पृथक जातियों के लिए इस शब्द के प्रयोग के रूप मे मिलते हैं। प्रचलित 'पंच-द्राविड' नाम महाराष्ट्र, गुजरात, आंध्र, कर्नाटक तथा तमिल नामक पाँच जातियों को सूचित करता है। अद्वैत सिद्धान्त के अधिष्ठाता पूज्य श्री शंकराचार्य जी, एक अन्य तमिल संत 'तिरुज्ञान सम्बन्ध' को द्राविड़-शिशु' (अर्थात् तमिल प्रान्त का बालक) कहते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, संस्कृत के टीकाकार श्री कुमरिल भट्ट ने भी जिस 'द्राविड़' शब्द का प्रयोग, अपने 'आंध्र द्राविड़ भाषा' के कथन में किया है, वह तमिल, अथवा तमिल तथा मलयालम सम्मिलित भाषा का द्योतक है।

इस अवस्था में 'द्राविड़' शब्द की उपयुक्तता संदेहास्पद है ही। और एक बात यहाँ उल्लेखनीय है कि डा० काल्डवेल, 'द्राविड़' शब्द को आर्यों से भिन्न एक जातिविशेष के अर्थ में अधिक प्रयोग करते हैं। यद्यपि आर्यों तथा द्राविड़ों की एक मिश्रित संस्कृति है,

---

(६) 'तमिल वरलारु' (अण्णामलै यूनीवर्सिटी) पृ० ४५।

तथापि वे, भाषांतर्गत प्रमाण से द्राविड़ों का भाग अलग करके दिखाने में यत्नशील हैं। यह ठीक है कि वैज्ञानिक ढंग से ही वे अपने अन्वेषण चलाते हैं। फिर भी इस जटिल-से-जटिल काम में कभी-कभी भूलें किये बिना रहना लगभग असंभव है। आधुनिक भाषा विद्वान यह निस्संदेह कह देते हैं कि जाति तथा भाषा, दोनों में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है क्योंकि भाषा एक जाति से दूसरे में विचरनेवाली वस्तु है। जहाँ तक जातिसूचक अर्थ में डा० काल्डवेल ने 'द्राविडियन' शब्द ग्रहण कर लिया है, वह आधुनिक अनुसंधान के लिए बाधा डालने वाला है। इस दृष्टि में कोई अन्य जाति निरपेक्ष शब्द, जैसे पहलेवाला 'तमूलियन' नाम, ज्यादा अच्छा प्रतीत होता है। फिर भी 'द्राविड' शब्द के प्रचलन के हेतु हम यहाँ उसे जातिनिरपेक्ष अर्थ में उपयोग करेंगे।

'द्राविड भाषाएँ : सूची तथा वर्गीकरण:

द्राविड़ परिवार की भाषाएँ कौन-सी हैं। सुदूर दक्षिण में ही नहीं, वरन् गंगा किनारे तथा बलोचिस्तान तक में ये बोली जाती हैं। दक्षिण में इन भाषाओं का समुन्नत साहित्यिक रूप हम देख सकते हैं लेकिन उत्तर में ये केवल आदिम जातियों की बोलियों के रूप में सीमित हो गयी हैं। इनका तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है—एक डा० काल्डवेल का, दूसरा ग्रियरसन का, और तीसरा, बरो तथा अन्य आधुनिक विद्वानों का।

विषप काल्डवेल, अपने व्याकरण में[७] 'परिष्कृत' (cultivated) तथा अपरिष्कृत (Uncultivated) भाषाओं के विभाजन करके यह सूची प्रस्तुत करते हैं: —

अ. परिष्कृत बोलियाँ

१. तमिल	४. कन्नड़
२. मलयालम	५. तुळु
३. तेलुगु	६. कुडगु (या कूर्गी)

आ. अपरिष्कृत बोलियाँ

१. तोडा (या तुडा)	४. कोंड (या 'कू')
२. कोटा	५. ओराओन (या 'कुरुक')
३. गोंड	६. राजमहल (या माल्टो)

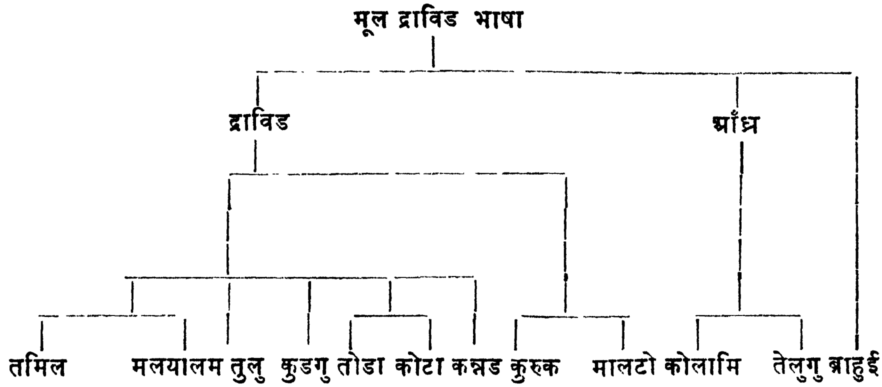
इस सूची में 'ब्राहुई' भाषा नहीं है, क्योंकि उस समय उसके रूप का पूरा पता प्राप्त नहीं था। इस प्रकार उस काल में 'कोलामि' बोली का परिचय भी नहीं हो पाया। इसका उल्लेख बाद में सन् १९११ में ग्रियरसन ने अपने सर्वेक्षण में किया है।

इन्होंने कुमरिल भट्ट के कथन 'आंध्र द्राविड-भाषा' के आधार पर अनुमान कर लिया है कि दक्षिण में उस समय, यानी करीब ई० सातवीं सदी में, दो बृहत् भाषा-शाखाएँ 'आंध्र' तथा 'द्राविड' मानी जाती थीं। इस आधार पर वे अपनी सूची निम्न प्रकार बना देते हैं।[८]

---

७. Comparative Grammar P. 6.

८. Linguistic Survey of India Vol I. pt. I p. 83.



असल में टीकाकार कुमुरिल भट्ट के कथन 'आँध्र द्राविड भाषा' का आशय केवल 'तेलुगु और तमिल' ही हो सकता है। कारण यह है कि बहुतेरे संस्कृत ज्ञाता 'द्रविड' को 'तमिल' के समानार्थक मानते थे। अपरिष्कृत द्राविड बोलियों से तो वे बिलकुल अपरिचित थे। कन्नड भाषा तेलुगु के अन्तर्गत और मलयालम, तमिल में सम्मिलित मानी जाती थीं।[९] कुमरिल भट्ट एक अन्य प्रसंग में "द्राविडादि भाषायाम्" लिखते हैं, जिसका अर्थ "तमिल आदि भाषाओं में" ठीक निकलता है।[१०] ऐसी दशा में ग्रियरसनकृत दो मोटे ग्रूपों की आवश्यकता नहीं सूझ पड़ती है। तो भी यह वर्गीकरण डा० काल्डवेल की सूची की अपेक्षा उत्तम प्रतीत होता है। एक नयी भाषा 'कोलामि' ने इसमें स्थान पा लिया है।

तीसरा वर्गीकरण आजकल भौगोलिक आधार पर किया जाता है।[११] और यह बिल्कुल वैज्ञानिक मालूम होता है। दक्षिणी, मध्यवर्ती, तथा उत्तरी—ये तीन ग्रूप इसमें हैं :

I दक्षिणी ग्रूप

१. तमिल
२. मलयालम
३. तेलुगु
४. कन्नड
५. तुलु
६. कुडगु
७. बडगा
८. तोडा
९. कोटा

II मध्यवर्ती ग्रूप

१. गोंडी
२. कोलामी
३. पर्जी
४. कंड या कोंड या कुयि-कुवि

९. Caldwell, Comparative Grammar. p. 4.

१०. कुमरिल भट्ट के "पूर्वमीमांसासूत्र भाष्य" की टीका (Quoted on p. 31 of Dr. P. S. S. Sastri's "An Enquiry into the Relationship of Sanskrit and Tamil")

११. T. Burrow's Article in Chambers' Encyclopaedia VII p.480.

III उत्तरी ग्रूप

१. कुरुक (या ओराओन)

२. माल्टो (या मालेर या राजमहल)

३. ब्राहुई

इस सूची में दो नयी बोलियाँ देखने में आती हैं, 'बडगा' दक्षिणी ग्रूप में और 'पर्जी' मध्यवर्ती ग्रूप के अन्तर्गत आ चुकी हैं। डा० काल्डवेल ने संभवतः अपने वर्गीकरण में 'बडगा' को तोडा तथा कोटा से सम्मिलित मान लिया था। वैसे ही हाल तक पर्जी भाषा, 'गोंडी' के अंतर्गत मानी गयी थी। किन्तु यथोचित अन्वेषण के पश्चात अब उसने एक स्वतन्त्र भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया है। आधुनिक अन्वेषकों ने और आगे कदम बढ़ाया है। मध्यवर्ती ग्रूप में कोलामि, पर्जी के साथ चार अन्य बोलियों को भी वे मिला देते हैं जिन पर खोज अभी जारी है।[१२]

१. गडबा

२. ओल्लारि

३. कोंडा

४. पेंगो

हम, इन तीन वर्गीकरणों को मिलाकर यथासंभव एक पूरी सूची बना सकते हैं। जो इस प्रकार होगी।

१. दक्षिणी ग्रूप

भाषा	प्रदेश	बोलनेवालों की संख्या[१३] जहाँ तक उपलब्ध है।
१. तमिल	मद्रास और सिंहलद्वीप के उत्तरी भाग	२ करोड़ २० लाख के ऊपर
२. मलयालम	केवल तथा लक्षद्वीप	करीब १० लाख
३. तेलुगु	आंध्र प्रदेश	२ करोड़ ६० लाख के ऊपर
४. कन्नड़	मैसूर	१ करोड़ ११ लाख के ऊपर

१२. Indian Linguistics, Turner Volume I. p. 259 ff.

१३. Sri S.K. Chatterji—Languages and the Linguistic problem p.8

Linguistic Survey 1911, I. I. (p. 81—91)

भाषा	प्रदेस	बोलने वालों की संख्या जहाँ तक उपलब्ध है।
५. तुळु	मैसूर प्रान्त के मंगलूर जिला	करीब १५,२०००
६. कुडगु	मैसूर प्रान्त के कूर्ग प्रदेश	,, ४५,०००
७. बडगा	मद्रास प्रान्त के "नीलगिरि" पहाड़	,, ३०,६५६[१८]
८. तोडा		,, ४००
९. कोटा		,, १२००

२. मध्यवर्ती ग्रूप

भाषा	प्रदेश	बोलने वालों की संख्या' जहाँ जहाँ तक विदित है।
१. गोंडी	मध्यप्रदेश, तथा आंध्र	,, २८,४७,६१३
२. कोलामी	मध्यप्रदेश	,, २३,२६४
३. पर्जी	उडीसा	,, १·७.३८७
४. कंड (या कोंड या कुवि-कुयि)		,, ५,७६,०००
५. गडबा ओल्लारि कोंडा पेंगो	मध्यप्रदेश तथा आंध्र	अन्वेषण के अन्तर्गत

३. उत्तरी ग्रूप

भाषा	प्रदेश	बोलने वालों की संख्या जहाँ तक विदित है
१. कुरूक (या ओरा ओन)	छोटा नागपुरवाला पहाड़ी प्रदेश	१०,३८०००
२. माल्टो (या मालेर या राजमहल)	राजमहल पहाड (गंगा किनारे के आसपास)	७१,०००
३. ब्राहुई	बलोचिस्तान (अब पाकिस्तान के अन्तर्गत)	२०,७०००

संपूर्ण 'द्राविड' बोलियों के समावेश का दावा हम इस सूची में कर नहीं सकते हैं यद्यपि इतनी खोज विद्वानों से हो पायी है। डा० काल्डवेल 'रामूसी' तथा 'मलयरश' लोगों के उदाहरण हमारे सामने रखते हैं जो जंगली जातियाँ 'तेलुगु' तथा 'मलयालम' की विकृत बोलियाँ बोलते हैं और किसी वर्गीकरण के अन्तर्गत नहीं आते। अन्वेषण उत्तरोत्तर उन्नति तथा विस्तार प्राप्त करने की आशा के साथ साथ, नयी द्राविड बोलियों की पहचान तथा पुरानी भाषाओं के नये अंशों के आविष्कार की संभावनाएँ बढ़ती जायंगी।

भाषाओं का संक्षिप्त परिचय

१. दक्षिणी ग्रूप

तमिल

क्षेत्र:—आधुनिक मद्रास राज्य की मान्यता प्राप्त शासकीय भाषा 'तमिल' है। सिंहलद्वीप के उत्तरी भाग में भी यह बोली जाती है। मद्रास प्रदेश में दो करोड़, और सिंहल में करीब बीस लाख की जनसंख्या को जोड़कर, एक बृहत् जनसमुदाय होता है जिस पर इस भाषा का अधिकार है। यही नहीं, संसार के सुदूरवर्ती प्रदेशों तक यह पहुँच गई है। तमिल लोग उत्साही यात्री हैं और दूर-दूर के प्रदेशों में बसे हैं। बर्मा (Burma) के बाजारों में और प्रशांत महासागर के 'फीजी' तथा 'मोरिपस' द्वीपों में इनकी भाषा की आकर्षक ध्वनि सुनाई पड़ती है।

इस प्रसंग में कहने योग्य है कि अनेक अन्वेषकों का सुझाव है कि जावाद्वीप से अफ्रीका तक फैला हुआ हिन्दू महासमुद्र, अनगिनत सदियों के पूर्व एक बड़ा भू-भाग था, जिसके लिये 'लेमूरिया' नाम रखा गया है। अनुमान है कि इस सारे भूखण्ड में तमिल का बोलबाला रहा होगा। अगर हम इसे काल्पनिक कहकर टालदेंगे, कम-से-कम यह मान लेना अनिवार्य है कि तमिल प्रदेश के कुछ भाग जलप्लावन में नष्ट हो गया। कारण यह है कि तमिल के बहुमान्य प्राचीन कवितासंग्रहों में उसके काफी प्रमाण मिलते हैं।

कई विद्वान (जिनमें फ़ादर हेरास (Father Heras) का नाम कथनीय है) आर्यपूर्व मोजहंदडो घाटी सभ्यता के भाषा वाले चिह्नों को पुराने तमिल के अत्यन्त निकट मानते हैं। किन्तु इसे एक निश्चित तथ्य हम नहीं कह सकते।

लिपि तथा वर्णमाला:—

आज की तमिल लिपि, नागरि लिपि की तरह, संराट अशोक के 'ब्राह्मी' अक्षरों की दक्षिणी लिखावट से निकली हुई सिद्ध की गई है किन्तु कुछ लोगों की राय है कि दक्षिणी या द्राविडी ब्राह्मी, स्वयं दक्षिणी भाषाओं के एक लुप्त मौलिक लिपि से उत्पन्न हुई।

पुराने तमिल शिलालेखों में 'बट्टेळुत्तु' (अर्थात् गोलाकार लिखावट) नामक एक लिपि विद्यमान है, जो तमिल भाषा की अपनी वस्तु मानी जाती है।

तमिल वर्णमाला में संस्कृत के अल्प प्राण, महाप्राण, ऊष्म, अनुस्वार, विसर्ग शब्दों के लिये बिलकुल स्थान है नहीं। विसर्ग के बदले 'आय्दम' नामक एक त्रिबिंदुवाला अक्षर है, जो भी आज-कल व्यवहार से नष्ट हो गया है। 'क' 'च' 'ट' 'त' 'प' वर्गों में एक ही अघोष अक्षर, अघोष तथा सघोष, दोनों ध्वनियों को अपने स्थानानुसार, तमिल के निजी पदों में (उधार लिये गये शब्दों में नहीं) समझा करता है। डा० काल्डवेल ने इसे एक 'अघोष सघोष ध्वनियों की परिवर्तन-विधि' बना दिया है।

संस्कृत से गृहीत ऊष्म शब्दों को अंकित करने के लिये एक प्रथा तमिल नाडु में चलती है। वहाँ संस्कृत लिखने के लिये 'ग्रंथ' नामक एक लिपि प्रयोग में है जिससे ये अक्षर आवश्यकतानुसार लिये जाते हैं। ग्रन्थ लिपि भी ब्राह्मी से उत्पन्न हुई थी। श्वास खींच कर उच्चरित होने वाले 'ह' कार (महाप्राण) शब्दों को तमिल भाषा टाल देती है, और इन्हें सुलभ बना देती है जैसे हिन्दी-इन्दी, फल-पल पाठ-पाडम-आदि। तमिल की अपनी ध्वनियाँ (जो अन्य दक्षिणी भाषाओं में भी यथासंभव उपस्थित हैं) हैं--'र्‌र (trilled) तथा 'ल'[१४] (frictionless continuant)। संस्कृत में कम प्रयुक्त 'ळ' शब्द तमिल में सापेक्षिक दृष्टि से अधिक पाया जाता है।

स्टैंडर्ड भाषा

तमिल के वैयाकरण, ईसा के पूर्व कई सदियों से, कहते आ रहे हैं कि भाषा का अच्छा परिष्कृत साहित्योपयोगी "रूप शेनमिल" है। हम 'शेनतमिल' को "स्टैंडर्ड भाषा" मान सकते हैं। ईस्वी बारहवीं सदी के बादवाले तमिल टीकाकारों ने अनधिकृत बोलियों को सूचित करने के लिये 'कोडुंतमिल' नाम निकाला। इन अनधिकृत बोलियाँ, बारह प्रदेशों की कही जाती हैं। "शेनतमिल" का कौन-सा प्रदेश था, और "कोडुंतमिल" के कौन-से प्रदेश थे, इस पर टीकाकारों में भी मत-भेद है।[१५]

आधुनिक तमिल के स्टैंडर्ड भाषा तथा बोलियों पर खोज अत्यंत वांछित है। वैज्ञानिक तरीकाओं के सफल सहयोग से अपेक्षाकृत अधिक बोलियाँ निकल सकती हैं।

---

१४. 'तमिल' शब्द का अंतिमवाला 'ल', असल में I. P. A. Phonetic System के अनुसार ɹ के निकट पहुँचता है। यद्यपि सुविधा के लिये, साधारण 'ल' चिह्न यहाँ प्रयुक्त ɹ है भिन्न ध्वनि समझना चाहिये।

१५. देखिये:Some Aspects of Kerala and Tamil Literature By Professor M. Raghava Iyengar. Translated into English By J. Parthasarathi- P. 1-6.

भाषाशास्त्र की उपादेयता

भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से, तमिल की विशेषताएँ हैं, उसकी अत्यंत प्राचीनता, संपन्नता, तथा अपनी स्वतंत्र सत्ता । इन अंशों में तमिल की तुलना संस्कृत से ही की जा सकती है ।

द्राविड भाषाओं के अध्ययन में, एक मुख्य ध्येय है, उन सब की मूलभाषा का पता लगाना, जिससे वे कालक्रम में पृथक हो गयीं । इस कार्य में, अन्य भाषाओं की अपेक्षा तमिल अधिक सहायता देनेवाली है, क्योंकि उसने अपनी मौलिक शब्दावली और पद्धतियों को पुराने साहित्य में सुरक्षित रख लिया है । यह कहने के काफी प्रमाण मिलते हैं कि तमिल मूलद्राविड-भाषा के बिल्कुल निकटस्थ है । इस भाषा के सुदृढ ज्ञान की आधार शिला पर ही डा० काल्डवेल ने अपना सिद्धान्त खड़ा कर दिया है ।

साहित्य

ईसा के लगभग एक हजार वर्ष पूर्व में ही तमिल साहित्य सुशोभित रहा होगा, क्योंकि उस साहित्य के महान लक्षण-ग्रंथ 'तोल्काप्पियम' ईसा पूर्व, चौथी शताब्दी का माना जाता है । तमिल के दिवंगत महारथी, श्री वैयापुरि पिल्लै ने 'तोल्काप्पियम' का समय ईसा पूर्व पहली शताब्दी माना है ।[१६] तो भी यह निस्संदेह पुष्ट होता है कि ईसा के कई शताब्दियों पूर्व साहित्य सृजन हो रहा था, जिसका एक प्राप्त लक्षण ग्रंथ ईसा पूर्व पहली सदी का, विदित होता है । 'चेर', 'चोल,' तथा 'पाण्ड्य' नामक तमिल प्रदेश के महान शासक वंशों का वर्णन, संस्कृत के रामायण महाभारत आदि अत्यंत पुरानी रचनाओं में भी मिलता है । तमिल के आदि काल से (जो संघकाल कहलाता है) लेकर, महाकाव्य काल से होकर आज तक कितना वैविध्यपूर्ण महानतम साहित्य संगृहीत हो चुका है—इसके विवरण के लिये यहाँ स्थान नहीं । संस्कृत भाषा के महामाननीय जर्मन विद्वान 'माक्समलेर का कहना यहाँ स्मरणीय है कि तमिल अधिक सुधार-संस्कार के अधीन भाषा है तथा इसको श्रेष्टतम निजी साहित्य का अधिकार प्राप्त है । 'पत्तुप्पाट्टु' 'एट्टुत्तोकै', 'शिलप्पधिकारं,' 'मणिमेखलै' 'तिरुक्कुरळ्' 'कंबरामायणं' 'पेरियपुराणं' आदि तमिल के चुने हुए विख्यात काव्यरत्नों के नाम हैं ।

प्राचीन संस्कृति का प्रभाव

ईस्वी पूर्व कई शताब्दियों से, तमिल भूमि के नरेंद्र 'मिस्र', 'सिरिया,' 'बाबिलोनिया,' 'इस्रेल,' 'ग्रीस', 'रोम' आदि तत्कालीन लब्धप्रतिष्ट राज्यों से वाणिज्य तथा सांस्कृतिक संबंध रखते थे । 'ग्रीक' तथा 'रोमन' लोग तमिल साहित्य में "यवन" नाम से बार बार पुकारे जाते हैं और तमिल नगरों में, समुद्रपार वाणिज्य के लोभ से ये लोग काफी बस चुके थे । इनमें कई दक्षिण के राज-प्रासादों में प्रियसेवक, शिलपी, चित्रकार

१६. Dr. C. K. Raja Commemoration Volume (Adyar, Madras). p. 135-8.

आदि भी होते थे। पता चलता है कि एक पांड्य राजा ने अपने दूत रोमन चक्रवर्ती अगस्टस की सभा में भेजा था। रोमन संराटों के सिक्के तमिल प्रदेश की पुरातत्व संबंधी खुदाईयों में पर्याप्त मात्रा में मिल चुके हैं।[१७]

तमिल नाडु की मोतियाँ संसार भर में प्रसिद्ध थीं और देश-विदेश में इन मोतियों की मालायें पहनना बड़े गर्व की बात थी। कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में तमिल नाडु की मोती व्यापार का उल्लेख मिलता है। मोती के लिये तमिल शब्द है 'मुत्तु' जो संस्कृत की 'मुक्ता' का मूल माना जाता है। ईस्वी पूर्व ९६२-९३० में 'सालमन' नाम के मशहूर यहूदी संराट, ने तमिल राजाओं से सोना, चांदी, हाथी दांत, मर्कट, मयूर आदि अप्राप्य वस्तुओं को मंगवाया। इसका प्रभाव भाषा के क्षेत्र में भी पड़ा था। मूल यहूदी भाषा वाली इंजील में 'मयूर' के लिये 'तुक्कि' शब्द का प्रयोग है जो असल में पुराने तमिल शब्द "तोकै" का प्रतिरूप है। इस प्रकार मूल तमिल 'अरिशि' (छावल), तथा 'अकिल' (एक सुगंधवाला लकड़ी) ग्रीक 'ओरजा' तथा यहूदी 'अहलिम' शब्द हो गये।[१८]

२. मलयालम

क्षेत्र : भारत की दक्षिण-पश्चिम कोना, इस भाषा का क्षेत्र है अर्थात् यह आधुनिक केरल राज्य तथा लक्षद्वीप की राजकाज की भाषा है। केरल के लोग प्रवासी हैं और विश्व भर काम-धंधे के लिए चले जाते हैं।

लिपि और वर्णमाला : मलयालम की आधुनिक लिपि संस्कृत लिखने के लिये दक्षिण में प्रयुक्त ग्रंथाक्षरों से निकली है। अतः वर्णमाला में सभी संस्कृत की ध्वनियाँ उपस्थित हैं। इनके अलावा, ह्रस्व 'ए' और 'ओ' तथा तमिल के विशिष्ट 'ऱ और 'ऴ' भी है। तमिल की पुरानी लिपि 'वट्टेलुत्तु' (यानी गोल लिपि) में ही पुरानी मलयालम भाषा लिखी गयी थी। करीब ई० बारहवीं सदी में, गोल लिपि व्यवहार से नष्ट हुई। कहा जाता है कि केरल के 'माप्ला' मुस्लिम लोगों के पारस्परिक व्यवहार में वट्टेलुत्तु लिपि प्रयोग में बची है।

भाषा का उदगम तथा विशेषताएँ : ई० दसवीं सदी के पहले आधुनिक मलयालम का प्रदेश पूर्णरूपेण तमिल भाषा भाषी था। तमिल नाडु के तीन भूपालकों में 'चेर' वंशीय मलयाल राज्य का शासन करते थे और ये अपनी भाषा तमिल को बड़ा ही प्रोत्सहन दिया करते थे।

आदिकाल से केरल प्रदेश की तमिल, भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थियों के कारण, एक उपभाषा के रूप में परिवर्तित हो रही थी। करीब नौवीं शताब्दी से, वह संस्कृत की छत्रछाया में आ गयी और उसका पालन-पोषण संस्कृतरसस्रावित वातावरण में ही हुआ करता था। फलतः 'मलयालम' नामक नयी भाषा निकली। यह नाम मुख्यतः प्रदेश का सूचक है और इसका अर्थ है 'मलै' (पर्वत) वाला प्रदेश"। सह्याद्रि पर्वतमाला इस भू-भाग को खंडित करती है और इस पर्वतजन्य पृथककरणने इस भाषा को तमिल से

१७. V. Kanaka Sabhai: The Tamils Eighteen Hundred year Ago, p. 38
१८. I bid, p. 31.

विच्छेद कराया । उद्गम में तमिल भाषा की पुत्री कालान्तर में उसकी भगिनी कहने लायक हो गयी ।[१९]

तमिल तथा मलयालम के बीच मुख्य भेद इतने ही हैं कि द्वितीय कथित भाषा में क्रिया पदों के प्रत्यय नष्ट हुए, और संस्कृत की शब्दावली तथा शैलियाँ अध्यधिक प्रविष्ट हुईं ।

साहित्य : मलयालम साहित्य का पहला ग्रंथ "रामचरितम" बिलकुल तमिल ढंग का है । संस्कृत-प्रभाव काल में, करीब चौदहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक 'भाषा संस्कृतयोर्योगम' कहलानेवाली मणिप्रवाल शैली की प्रचुरता पायी जाती है ।

संस्कृत का दान मलयाल साहित्य विधाओं में भी अधिक विद्यमान है । इस भाषा के प्रसिद्ध नाटक, विविध काव्य, पुराण-इतिहासों के इतिवृत्त, वेदान्त दर्शन आदि केरल कवियों के अनुवाद तथा अनुकरण के विषय बने । एलुच्चन, कण्णश्शन पणिक्कर, चेरूश्शेरि—ये तीन तेजस्वी कवियों ने रामायण-भारत-भागवत के सौरभ से समस्त केरल देश को सुवासित किया । कविगण सुन्दर चंपू काव्य की सृष्टी बराबर करते रहे । धार्मिक ग्रन्थों के साथ, एतिहासिक महत्त्व की रचनाओं का भी सृजन हुआ । केरलोत्पत्ति, तथा इरविक्कुट्टिप्पिल्लैयारपाट्टु इस नमूने के है । 'तिरुवाङकुर' 'कोचिच', 'तथा कोलिक्कोड' के प्रदेशों के राजा (जो केरल के पुराने राजवंशीय हैं ।) संस्कृत तथा भाषा पंडितों की उन्नति करना ही अपना प्रथम कर्तव्य समझते आये हैं । इनमें अनेक स्वयं अच्छे साहित्यकार भी थे जैसे नामी 'स्वाथी तिरुनाल महाराज' । इन महीधरों के आश्रय में केरल के नृत्यं नाटक विधाएँ बहुत विकसित हुईं । भारतवर्ष भर विख्यात 'कथकलि' नामक केरलीय नाच, सारांश में अभिनेय कथा साहित्य है और यह दृश्य काव्य केरल वाङमय के एक शोभायमान अंग हो गया है ।

३. तेलुगु

क्षेत्र : प्रदेश विस्तार तथा जनसंख्या की दृष्टि से, तेलुगु को अधिक महत्त्व मिल जाता है । आधुनिक आंध्र प्रदेश जिसका क्षेत्रफल बहुत विस्तृत किया गया है, तेलुगु का क्षेत्र है । इस भाषा के बोलने वालों की संख्या २ करोड़ ६० लाख के ऊपर पहुँचती है । आंध्र प्रदेश के बाहर तेलुगु वाले काफी पाये जाते हैं, और ज्ञात है कि आज अफ्रीका में करीब ६०,००० आंध्र प्रवासी बस गये है । यह भी ज्ञात हुआ है कि पुराने जमाने में इंडोनेशिया के द्वीपों पर, इन लोगों ने अपनी विजयपताका फहरा कर, राज किया था, जो गौरव बाद में ही ग्यारहवीं सदी में तमिल लोगों को प्राप्त हो सका ।

लिपि तथा वर्णमाला : तेलुगु और कन्नड लिपियां प्रायः एक ही हैं । दोनों, संराट अशोक के शिलालेखों की दक्षिणी लिखावट (जो 'द्राविडी ब्राह्मी' कहलाती है) पर आधारित हैं । तेलुगु वर्णमाला में संस्कृत के सब ध्वनि चिह्न उपस्थित हैं । अनुस्वार विसर्ग चिन्हों के साथ एक अर्धानुस्वार चिन्ह भी है । तमिल का कठिन उच्चारणवाला ऱ्र

१९. Caldwell, Comparative Grammar. p .I9.

अक्षर उपस्थित है। दूसरी विशिष्ट तमिल भाषा ध्वनि 'ल' (ɹ) पुरानी तेलुगु में थी पश्चात् लुप्त हुई। देवनागरी के 'च' वर्ग के अक्षर के अतिरिक्त दो और ध्वनियाँ च ( ) ज ( ) भी तेलुगु में हैं, जो मराठी में भी मौजूद हैं।

'तेलुगु शब्द : इस भाषा के मामूली नाम 'तेलुगु' के साथ, अन्यान्य नाम भी चलते हैं—तेलुंगु, तेलिंग, तैलिंग, तेनुगु तथा तेनुंगु। कई आंध्र विद्वान 'तेलुगु' शब्द को 'तेनुगु' से उत्पन्न मानते हैं, जिसका अर्थ 'मधुमयी भाषा' (तेने–मधु अगु–है) होता है। दूसरे विद्वत्गण, इस शब्द की व्युत्पत्ति 'त्रिलिंग' से कर देते हैं, जिसका तात्पर्य है "तीन शिवलिंग के मंदिरों के बीच बसा हुआ प्रदेश"। ये तीन मंदिर "काळेश्वरम श्रीशैलम, तथा द्राक्षारामम" कहे जाते हैं। इस पौराणिक व्युत्पत्ति पर डा० काल्डवेल विश्वास नहीं रखते। परन्तु इतना तक मानते हैं कि 'त्रिलिंग' शब्द बहुत पुराना है क्योंकि इसका प्रयोग, बौद्ध इतिहासकार 'तारानाथ' तथा यवन यात्री 'टालमि' ने भी किया है।

संस्कृत की रचनाओं में 'तेलुगु' के स्थान में मुख्यतया 'आंध्र' नाम ही देखा जाता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में, तथा रामायण, महाभारत, पुराणादियों में 'आंध्र' शब्द उस जनसमूह के लिए प्रयुक्त है और स्पष्ट है कि बाद में यह देश तथा भाषा दोनों के लिये व्यवहृत होने लगा। 'आंध्र' नाम की व्युत्पत्ति कई तरह से की जाती है। किन्तु उन सब में 'अंधकार' का संकेत किसी रूप में जुड़ा हुआ है। कहा जाता है कि रामायण काल में आंध्र 'दण्डकारण्य' का निबिड़ बन था।[२०]

बहुत पुराने काल से आंध्र राष्ट्र दो भागों में विभक्त था—एक समुद्र के किनारे वाला 'कलिंग देश' और दूसरा, भीतर वाला 'आंध्र देश'। प्राचीन संस्कृतग्रंथों में दोनों समान रूप में 'आंध्र' नाम से ज्ञात होते थे।

भाषा की विशेषताएँ : तमिल की प्राचीनता तेलुगु को नहीं मिल सकती। परन्तु इस भाषा की मधुरता तथा उच्चारण की ललितता बहुधा श्लाधित हुई हैं। हर एक पद, एक स्वर में ही परिणत होता है। पुर्तुगाल के शासक इसे जेंतू (Gentoo) पुकारते थे, जिसका मतलब है 'श्रीमान की भाषा'। समृद्ध शब्दावली तथा साहित्य के विषय में तमिल का निकटवर्ती स्थान इसको है।

इस भाषा का सब से प्राचीन नमूना ई० ६३३ का एक शिलालेख है, जो आधुनिक अन्वेषकों के परिश्रम से प्राप्त हुआ है।

साहित्य : एक ओर तमिल साहित्य में मौलिकता का पुट परिलक्षित है, दूसरी ओर तेलुगु साहित्य परम वंद्य संस्कृत के अमिट पदचिन्हों का अनुगामी बनना ही सार्थक समझता था। इस भाषा का क्रमबद्ध साहित्य ई० ग्यारहवीं सदी में श्री नन्नय भट्ट के 'महाभारत' के अनुवाद से उपलब्ध होता है। तत्पश्चात् वालमीकि रामायण, भागवत-पुराण, अन्य-पुराण-इतिहास आख्योपाख्यान, वेदान्त। तत्त्व भाष्य, स्थलम हात्म्य आदियों के भाषा रूपान्तर निरन्तर निकल रहे थे जिन्हें अनुवाद नहीं बल्कि मौलिक रचनायें ही कहना उचित प्रतीत होता है। 'तिक्कन' 'एर्राप्रगड़'[१] 'पोतन', 'श्रीनाथ,' आदि महाकवियों का

२०. Telugu Literature (Heritage of India Seris) p. 15

नाममात्र यहां उल्लेख करना संभव है। कभी-कभी समकालीन परिस्थितियों की झांकी भी ऐतिहासिक तथा प्रहसनात्मक काव्यों में मिलती है, जैसे श्रीनाथकृत "पलनाटिवीर चरित" तथा 'वीधिनाटक' में।

तेलुगु साहित्य का स्वर्ण युग निसंदेह 'विजयनगर' साम्राज्य का चरमोत्कर्ष काल था। इस हिन्दू साम्राज्य ने दक्षिण को लगभग ढाई सौ वर्षों तक मुसलमानी आक्रमणों से बचाया। इस महाराज्य के जाज्वलयमान सम्राट कृष्णदेवराय --जिनकी गणना चंद्रगुप्त, अशोक आदि प्रमुख शासकों से ही हो सकती है—स्वयं भाषा तथा संस्कृत के मान्य कवि थे और संग्राम क्षेत्र में बार बार प्राप्त जयविजयों के कारण कविता के सुग्राह्य विषय भी बने। दक्षिण के वैष्णव मत की नित्य पूजिता देवी "आण्डाल" के व्यक्तित्व से अत्यंत प्रभावित होकर, उसकी गरिमा गान के रूप में "आमुक्त मालयदा" नामक काव्य इस सम्राट ने प्रस्तुत किया है। भावोत्कृष्टता तथा गंभीर अभिव्यंजना शक्ति इस काव्य की विशेषताएँ हैं। इनके आस्थान कविवर 'अल्लसानि पेद्दन्न' (जिन्हें 'आंध्र कविता पितामह' की उपाधि से राजाधिराज ने स्वयं विभूषित किया था) 'स्वरोचित मनुचरितम' नामक सून्दर प्राकृतिक वर्णनों से विशिष्ट एक महान काव्य की रचना की। कवि "नंदितिमन का 'पारिजातापहरणम', सूरलि पिंगन्न के 'राघवपाण्डवीयम' 'कलापूर्णोदयम' एवं 'प्रभावति प्रद्युम्न' नामक ग्रंथ तेलुगु महाकाव्यधारा की नाटक लक्षण सम्पन्न अनुपम कृतियां हैं। जनप्रिय साहित्य विधाओं पर यहाँ प्रकाश डालना असम्भव है। जनाह्लादकारी नीति साहित्यकारों में 'वेमन' कवि अद्वितीय हैं और इनकी सूक्तियां, कबीर के दोहे की तरह घर-घर तक पहुँच गयी हैं।

४. कन्नड

क्षेत्र : इस भाषा का केन्द्र मैसूर है। मुख्यतः समुद्र तटवर्ती लम्बा भाग और देक्कानी पठार' इस भाषा के प्रदेश हैं। संख्या की दृष्टि से १ करोड़ ११ लाख वाला कन्नड़ का स्थान तेलुगु एवं तमिल के बाद तीसरा होता है। भारत के अन्य प्रान्तों में, खासकर तेलुगु सथा तमिल प्रांतों में (जिन पर कन्नड राजाओं का शासन कुछ समय तक रहा) कन्नड भाषी लोग बस चुके हैं। मद्रास के नीलगिरि पहाड़ पर बोली जाने वाली 'बडगा भाषा' जिसका जिक्र हम पीछे करेंगे, एक पुरानी कन्नड बोली विदित होती है।

लिपि तथा वर्ण माला : हम देख कुके हैं कि तेलुगु तथा कन्नड, दोनों भाषाओं के लिये प्रयुक्त लिपि एक ही है जो अशोक के 'द्राविड़ी ब्राह्मी' से निकली। कन्नड वर्णमाला में संस्कृत की ध्वनियाँ हैं ही। तमिल एवं मलयालम में प्रयुक्त 'विशिष्ट' अक्षर, 'ऱ्र', 'ल', (ɹ) दोनों आधुनिक कन्नड में लुप्त हो चुके हैं यद्यपि ये पुरानी भाषा में विद्यमान थे।

कन्नड और कर्नाटक नाम : 'कन्नड' नाम, 'कर्नाट' या 'कर्नाटक' ('कर्नाट' का विशेषण) का पर्याय शब्द माना जाता है। कर्नाटक को एक संस्कृत शब्द ही उस भाषा के पंडित कहते हैं और कई प्रकार व्युत्पत्ति कर देते हैं। पर 'बिषप' काल्डवेल इसे एक 'द्राविड़' शब्द मानकर कर्-काला नाड़—प्रदेश), 'काला भूमिवाला प्रदेश' का अर्थ देते हैं।

इस शब्द के प्राचीन प्रयोग ई० पाँचवीं सदी में 'वराहमिहिर' और पश्चात् तारानाथ ने किया है। उस समय तेलुगु तथा कन्नड, दोनों प्रदेशों के लिए यह शब्द काम आया था, और बाद में ही कन्नड वालों तक सीमित हो गया। समीप काल में अंग्रेजी लोगों ने 'कर्नाटक' शब्द का गलत उपयोग किया। विदेशी लोग आते समय मद्रास प्रांत के अधिपति विजयनगर साम्राज्याधीन कर्नाटकी थे। इस कारण, मद्रास के दक्षिण वाला सारा प्रदेश उन लोगों को 'कर्नाटिक' हो गया।

विशेषताएँ : कन्नड भाषा 'हळे कन्नड' तथा 'होस कन्नड' अर्थात् पुरानी तथा नयी भाषाओं में विभाजित है। मुख्यतः 'हळे कन्नड' पुरानी साहित्यक शैली है, जो आजकल व्यवहार से दूर हो गयी है। प्रत्ययों का नष्ट हो जाना, तथा 'ह' कार शब्दों का अधिक उपयोग—इन दोनों लक्षणों से नयी कन्नड, पुरानी कन्नड से पृथक है। जैसे 'शेनतमिल' उच्च साहित्यिक भाषा मानी जाती है, वैसे ही पुरानी कन्नड परिमार्जित साहित्यिक साधन गिनने योग्य है। परन्तु आजकल वह मृत प्राय हो गयी है।

कदाचित् प्राचीनता में तमिल भाषा के पश्चात् दूसरा स्थान कन्नड को मिल सकता है। मिस्र की खुदाइयों में एक यवन भाषा का ग्रंथ मिला था, जिसमे किसी भारतीय भाषा की पंक्तियाँ विद्यमान हैं। इसका काल ई० दूसरी सदी का गिना जाता है। शिलालेखों के विशेषज्ञ डा० हुलस्च, (Hultsch) इन्हें कन्नड भाषा के अंतर्गत मानते हैं। अगर यह निस्संदेह सिद्ध हो गयी, तो कन्नड भाषा की पुरानी बानगी दूसरी सदी पहुँच जाती है।

साहित्य—कन्नड साहित्य की तुलना एक बृहत् नदी की धारा से की जा सकती है, जो आरम्भ में अकेले चलती है, मध्य में उपनदियों की पृथक धाराओं से सम्मिलित होती है, और अंत में विशाल प्रवाह बनकर, अत्यन्त प्रभावोत्पादक दृश्य देती है। शुरू से बारहवीं सदी तक लगातार कन्नड वाङमय जैनियों का है। कन्नड देश के 'गंग', 'राष्ट्रकूट' तथा 'होय्सल' राजा लोग पहले जैन मतावलम्बी थे और इनके प्रोत्साहन में जैन साहित्य ने अधिक प्रगति कर ली। जैन तीर्थंकरों के चरितरूपी पुराण, जैनियों के रामायण भारतादि चंपू काव्य तथा अन्यान्य व्याकरण अलंकारादि ग्रंथ, इस काल की विशेष उपलब्धियाँ हैं। 'आदि पंप' और 'अभिनव पंप' के महाभारत एवं रामायण, नृपतुंग महाराज से संबंधित 'कवि राजमार्ग' नामक काव्यशास्त्र ग्रंथ—ये जैन साहित्य के चुने हुए उदाहरण हैं।

ई० बारहवीं सदी से मुख्य जैनधारा के साथ "वीरशैव" (या लिंगायत) मत की साहित्य धारा भी बहने लगी। 'शिवात् नास्ति परतरं' सिद्ध करने वाले "वीर शैव" आन्दोलन से साहित्य को कुछ लाभ हुआ। इस मत के संस्थापक श्री 'बसवन्न' तथा अन्य आचार्यों की कविताबद्ध जीवनियाँ, उत्तुङ्ग भाव बोधक 'वचन' नाम की गद्य सूक्तियाँ (जिनका असर सुनने वालों पर सदैव रहता था)—ये वीर शैवों की अमर साहित्यिक देन है।

ई० बारहवीं सदी के पूर्वार्ध में ही श्री रामानुजाचार्य कन्नड प्रदेश में पधारे और इस तेज पुंज के पावन सम्पर्क से तत्कालीन होयसल महाराज जैन मत छोड़कर वैष्णव हो गये। श्री वैष्णव दर्शन तथा ग्रंथों के पठन-पाठन से कन्नड भाषी जनसमुदाय आंन्दोलित

२१. Kanarese Literature (Heritage of India Series) p. 12

हो उठा । इस नयी स्फूर्ति से साहित्य नदी और विशाल हुई । नरहरिकृत तोरवे रामायण, लक्ष्मीश का जैमिनी भारत, बिट्ठलनाथ का भागवत् पुराण, पुरंदरदास के 'कीर्तन'—ये उदाहरण वैष्णवों की साहित्यिक देन के लिए पर्याप्त होंगे ।

इस प्रकार जैन, वीरशैव तथा वैष्णव धाराओं से विलक्षणपूर्ण महानदी रूपी कन्नड साहित्य, व्याकरण ज्योतिषादि अन्य विधाओं से भी अलंकृत है । जन साहित्य की अपनी खूबियाँ हैं । खासकर 'यक्षगानं' नामक सुन्दर पद्यात्मक नाटक बहुत लोकप्रिय है ।

५. तुळु

क्षेत्र—आधुनिक 'मैसूर' प्रांत के अंतर्गत वाले एक जिले में यह भाषा बोली जाती है । 'कनरा' नामक इस जिले में 'चंद्रगिरि तथा कल्याणपुरी' नदियाँ इस भाषा की सीमाएँ कहलाती हैं । सदियों से इन पुरानी सीमाओं का उल्लङ्घन इसने नहीं किया ।

लिखावट—केवल के मुंह में संचार करने वाली बोली होने के कारण तुळु की अलग लिपि नहीं है । ईसाई पादरी लोगों ने कन्नड लिपि में इनका व्यवहार किया था । कुछ तुळु भाषी हिन्दू (जो केरल की सीमा निवासी हैं) मलयालम के अक्षरों से भी अपनी भाषा लिखते हैं ।

विशेषताएँ—'तुळु' शब्द का अर्थ, 'विनम्र या मृदु' कहा जाता है जो मुख्यतः जनसमुदाय को सूचित करने वाला है । अक्षर-हीन होने पर भी, गठन की दृष्टि से इस भाषा को डा० काल्डवेल परिष्कृत मानते हैं । भाषावैज्ञानिक अवलोकन में तमिल और मलयालम से तुळु काफी दूर है । किंतु वह कन्नड से निकट कहने योग्य है । तुळु प्रदेश पर अन्य भाषाओं का विशेषकर कन्नड तथा मलयालम की व्यापकता अत्यधिक है और सभी तुळु लोग द्विभाषी हो गये हैं । फिर भी इस भाषा के नष्ट होने का भय नहीं है, क्योंकि ये लोग अपनी पुरानी चीज़ों पर भक्ति रखने वाले हैं ।

६. कुडगु

क्षेत्र—सह्याद्रि पर्वतमाला के मध्य में सुन्दर प्राकृतिक वातावरण में बसे हुए 'कूर्ग' प्रदेश की भाषा 'कुडगु' है । आजकल मैसूर राज्य से यह प्रदेश सम्मिलित किया गया है ।

विशेषताएँ—इस भाषा की अपनी लिपि नहीं है । कन्नड के अक्षर इसके लिये उपयोग किये जाते हैं । यद्यपि साहित्यिक नहीं है, डा० काल्डवेल इस भाषा को गठन की दृष्टि से परिष्कृत कहते हैं ।

'कुडगु' शब्द का पर्याय 'कोडगु' भी विद्यमान है । पर मूल धातु "कुड" हो सकता है जो तमिल में 'पश्चिम दिशा' के तात्पर्य में व्यवहृत होता है । कुडगु पश्चिम दिशा में सह्याद्रि पर्वत प्रांत के होने से, यह नाम उचित ही है ।

यह, कन्नड भाषा की एक बोली मानी गयी है जो निकटवर्ती 'तुळु' से भी प्रभावित हुई है । किन्तु डा० काल्डवेल के कथनानुसार इसका स्थान 'पुराने कन्नड' तथा 'तुलु' दोनों के बीच का है । इसके कई लोकगीत पादरियों से संगृहीत किये गये हैं ।

७. बडगा

क्षेत्र—मद्रास राज्य के 'नीलगिरि' नामक नयनाभिराम पर्वत भूमि पर एक छोटी सी आदिम जाति की बोली है। बोलने वालों की संख्या जो अब लगभग चालीस हज़ार की है, कम होती जा रही है।

विशेषताएं—अपने तुलनात्मक व्याकरण में डा० काल्डवेल ने इस बोली के लिये स्थान नहीं दिया है। परन्तु आधुनिक विद्वान इसका अलग विवरण कर देते हैं जब कि इसका स्थान निश्चित नहीं है और इसकी जनसंख्या भी अपेक्षाकृत अधिक है। यह बेपढ़े-लिखे आदिवासी लोगों की बोली है।

८. तोडा, तथा कोटा

क्षेत्र———'बडगा' के आसपास, 'नीलगिरि' पर्वत में ही, ये बोलियाँ बोली जाती हैं। तोडा तथा कोडा लोग क्रमशः ६००, १२०० की आबादी से कम होते जा रहे हैं।

विशेषताएं—जैसे ये दोनों आदिवासी जातियाँ क्षीण हो रही हैं, उनकी बोलियाँ बाहरी सभ्यता के प्रभाव से भी लुप्त हो जाने की संभावना अधिक है। 'तोडा' लोग प्रायः गडरिये हैं और कोटा जाति कारिगर हैं। नीलगिरि पहाड़ के आकर्षक ग्रीष्मवास-स्थान 'ऊटकमंड' से समीप होने के कारण ये जातियाँ बाहरी जगत के परिचय में बार बार आयीं। आदिवासी के किस्म के रूप में नृतत्व शास्त्रियों के अध्ययन में भी ये काफ़ी आ चुके हैं।

कहा जाता है ये दोनों बोलियाँ कन्नड भाषा के विकृत रूप हैं परन्तु डा० काल-डवेल ने इन्हें पृथक स्थान दिया है। कहना है कि तोडा और कोटा लोग, एक दूसरे की बोली को समझ सकते हैं। आजकल सुप्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक प्रो० एमेनोने इन भाषाओं के शब्द संगृहीत करके उनके अध्ययन के लिये उचित सुझाव दिये हैं।

(क्रमशः)

वि. वि. आर. शर्मा.

द्राविड़ भाषाओं के देशीय शब्द

वैयाकरणों और नैघंटिकों ने द्राविड शब्दों को चार भागों में विभक्त किया।[1]

(१) **तत्समः**—संस्कृत प्रातिपदिकों की प्रत्यय जोड़ने से बनते हैं।
उदाहृणः—पुस्तक (मु) रामु (डु) गुरु (वु) सीत। इत्यादि।

(२) **तद्भवः**—संस्कृत शब्दों के परिवर्तन से बनते हैं। (वर्णलोप, वर्णागम, तथा वर्ण व्यत्यय से) पोत्तमु (पुस्तक); वेज्जु (वैद्य) लच्चि (लक्ष्मीः) इत्यादि।

(३) **देश्यः**—तत्सम, तद्भव और ग्राम्य के सिवाय बाकी सभी शब्द।
उदाहरणः—पुलि (शेर) पल्लु (दाँत) कल्लु (पत्थर) इत्यादि।

(४) **ग्राम्यः**—लक्षण के विरुद्ध शब्द।
उदाहरणः—वस्ताडु (आएगा) पोताडु (जाएगा) इत्यादि।

वैयाकरणों द्वारा शब्द प्रयोग कितने भी प्रकार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाजन करने पर भी कुछ प्रयोग बच ही जाएँगे। उसी प्रकार नैघंटिकों द्वारा शब्द अनेक भागों में विभक्त होकर भी उनमें कुछ ऐसे शब्द बच जाएँगे जो किसी वर्ग में नहीं आ सकते। हमारे लाक्षणिकों ने जहाँ तक हो सके तत्सम या तद्भव का विवेचन देने की कोशिश की। जिनका विवेचन संभव न था, उनको देश्य बताया, जो उसी देश में उत्पन्न हुए और अन्य भाषाओं से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार का विभाग उन लाक्षणिकों की बुद्धि या आलोचना शक्ति पर आधारित रहता है। इसी कारण से 'तेलुगु' के देश्य 'कन्नड' में तत्समों के रूप में, कन्नड के तद्भव तेलुगु में दश्यों के रूप में, देखना संभव हुआ। इसके अतिक्ति एक ही भाषा में एक नैघंटिक दूसरे नैघंटिक से भिन्न विचार

---

१. "तज्जासमाचदेश्याग्राम्या चेयम् चतुर्विद्या भवति;
प्रकृतिद्वयजा, तज्जा, तुल्यातुममा, प्रवाहिनी देश्या"
"पामरादि प्रयुक्तम् यत्तद्ग्राम्यमभिधीयते"
(आंध्र शब्द चितामणि, और अथर्वण कार्यकावलिः)

रखना भी तटस्थ हुआ। इन उद्देश्यों का केवल आधार प्रजा का व्यवहार ही होने के कारण यह विभजन में दोष आ गये हैं।

उदाहरण :—तेलुगु के प्रामाणिक कोष 'शब्द रत्नाकर' में 'बिय्यमु' शब्द देश्य बतलाया गया है। परन्तु यह 'बीजम' संस्कृत शब्द, प्राकृत में 'बी + अम्,' 'बी + य् + अम्' में परिवर्तित होकर, 'बिय्यमु' बना है। इसलिये यह 'संस्कृत भव' या 'प्राकृत सम' के वर्ग के अन्तर्गत आता है। अतः यह देश्य कदापि नहीं हो सकता।

द्राविड भाषाओं को आर्य भाषाओं से भिन्न कहना निर्विवाद नहीं है। जो भिन्न मानते हैं, वे उपर्युक्त देश्यों को द्राविड शब्द मानकर चलते हैं। इसलिए उनको संस्कृत से भिन्न दिखाई देती हैं। भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व द्राविड रहते थे, उनकी ही भाषा स्वतन्त्र देश्य है, इस देश्य का संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह उनका मत है।

(आदिमनिवासी द्राविड भी बाहर से ही आये हुए थे। यह दूसरा मत है।)

परन्तु इस प्रकार का तत्सम, तद्भव और देश्यों का विभाजन प्राकृतों में भी पाया जाता है। 'दंडि कवि' (641 A.D) अपने 'काव्य दश' मे यों कहा है। "तत्सम, तद्भवोदेशीत्यनेकः प्राकृतः क्रमः महाराष्ट्रायाम् भाषाम् प्रकृष्टम् विदुः।" वाल्मीकि के प्राकृतसूत्रों में "भाषा द्विधु संस्कृताच प्राकृतीचेतिभेदतः कौमारपाणिनीयादि संस्कृत, संस्कृतामत, त्रिविधु प्राकृती भाषा भवेद्देश्याच तत्सम तद्भवाच भवेद्देश्या तत्रलक्षणमंतरा, तत्समा संस्कृतसमा नेया संस्कृत वर्त्मना तद्भवा संस्कृतभवा सिद्धासाध्येतिमाद्विधा, द्विविधा-याश्च सिध्यर्थम् प्राकृतम् लक्षणम् मतम्" पाते हैं। इसी लक्षण को आंध्रकर्नाटक द्राविड वैयाकरण भी मानते हैं। प्राकृत आर्य भाषाओं में भी देश्य नामक एक वर्ग है। इसलिये प्राकृत के वैयाकरण भी तत्सम तद्भवों के सिवाय बाकी शब्दों को देश्य मानते हैं। "भवद्देश्या तत्र लक्षणमंतरा" का मतलब यह है कि व्याकरण नियमों से बद्ध न होकर, उन देशों में ही, व्यवहार के अनुसार उद्भूत शब्द ही देश्य है। इसके अनुसार देश्यों से युक्त प्राकृतों को द्राविड भाषाओं की तरह संस्कृत से भिन्न कहना अनुचित है।

दूसरा विशेष यह है कि, 'हेमचन्द्र' अपने (प्राकृत) 'देशीनाममाला' में, 'पुलि' 'पिल्लि' 'पिल्ल,' 'ऊरु' आदि शब्दों को 'प्राकृतदेश्य' कहा है। 'पुलि' सभी द्राविड भाषाओं में देश्य है। 'पिल्लि' तेलुगु में तद्भव है। यह हिन्दी में 'बिल्ली' के रूप में दिखाई देता है। (इसी प्रकार 'पिल्ल,' 'ऊरु' भी) इसी कारण से, अनेक देश्य शब्द सारे भारत में व्यवहृत होने के कारण सभी लोगों की देश्य बन गये हैं। दूसरी भाषाओं से संपर्कहीन लोग इनको अपने-अपने देश्य समझ बैठे। इस देश्य विभाजन के ग्रहण करने से ही, डॉ० 'काल्डवेल' जैसे बड़े 'द्राविड भाषा-विज्ञान शास्त्र' भी मूल से बच न सके। इनके मत में द्राविड भाषाएँ प्रत्येक कुटुम्ब की हैं। द्राविड भाषाओं को प्राकृतों से तुलना न करके एकदम संस्कृत से ही तुलना इन्होंने की है। हमारे प्राचीन पण्डितों के कथन को कि, द्राविड भाषाओं का मूल प्राकृत हैं विशेषकर पैशाची प्राकृत हैं, जानकर भी इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। प्राकृत और वैदिक संस्कृतों में बड़ा निकट सम्बन्ध है, और पाणिनि आदि शास्त्रज्ञों द्वारा संस्कृत लौकिक संस्कृत उनसे दूर हो गया है। यह बात अच्छी तरह जानकर भी उसी लौकिक संस्कृत से तुलना करने के कारण द्राविड भाषाएं आर्य

भाषाओं से भिन्न होने के निष्कर्ष आ गये। वह कितना भी पण्डित हो, उसका वाद आरम्भ में ही गलत रास्ते पर पैर रखा था। तब तक अनेक देशीय और विदेशीय पण्डित दोनों को एक ही कुटुम्ब के अन्तर्गत ही मानते थे। केवल 'काल्डुवेल' ने द्राविड भाषाओं का 'सिथियन' भाषाओं 'से' सम्बन्ध जोड़ दिया। बिना प्राकृतों से तुलना किए ही, लौकिक संस्कृत से तुलना करके, द्राविड भाषाओं को आर्य भाषाओं को बिल्कुल भिन्न बताया।

आजकल हर शास्त्र का, कला का, सम्बन्ध राजकीयों से जोड़ना एक प्रकार का रिवाज ही हो गया है। काल्डुवेल पाश्चात्य होकर कभी कुछ विवादग्रस्त अंशों को, पण्डितों के परिशीलन के लिए प्रथम संस्करण में अपने ग्रंथ में जोड़ दिया था। लेकिन आजकल के संस्कर्ता महानुभावों ने उस भाग को निरर्थक बताकर निकाल दिया। यह 'काल्डुवेल' से भी अंगीकृत नहीं है। अतः सत्यांश छिप गये हैं। काल्डुवेल द्राविड भाषाओं का मूलाधार 'तमिल' मानकर, साठ चुने हुए तमिल शब्दों की तुलना संस्कृत और अँग्रेजी शब्दों से करने में भी इन्होंने बड़ी भूल की। उसका उद्देश्य केवल अँग्रेजी को संस्कृत से निकट और तमिल को बहुत दूर दिखाना ही था। इसलिये यहाँ, जान बूझकर संस्कृत के तमिल से असंबद्ध शब्दों को चुनना बड़ी शोचनीय बात है।

संस्कृत भाषा में हर शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। भूमि शब्द के लिए पचास से ज्यादा पर्यायवाची शब्द हैं। प्राकृत के 'पुढवि' शब्द से संस्कृत की तुलना करने के लिए उसमें निकट संबद्ध 'पृथिवी,' 'पृथ्वी,' आदि शब्दों को ही लेना चाहिए। न कि असंबद्ध-अचला, अनता, रसा, विश्वंभरा, धरा, धरित्रि, इत्यादि। क्योंकि ये 'पुढवि' के निकट नहीं हो सकते। उद्देश्य पूर्वक असंबद्ध शब्दों को तुलना के लिए चुनना और यह बताना कि उनमें कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल आत्मवंचना ही है।

उदाहरणः—उन्होंने फ़ादर (Father) शब्द की 'पितृ' संस्कृत शब्द से तुलना करके अंग्रेजी को आर्य भाषा परिवार में जोड़ दिया है। लेकिन संस्कृत के 'जनक' या दूसरे शब्द से 'फादर' की तुलना करने से यह निरुपित होगा कि संस्कृत और अंग्रेजी में कोई निकटता नहीं है। इसी प्रकार 'मदर' (Mother) शब्द का 'मातृ' के बदले 'जननि' से तुलना अगर वे करते तो गलत हो जाता था।

संस्कृत के 'मातृ' 'पितृ' शब्द पाश्चात्य देशों में 'फादर' फ़ादर में परिवर्तित हो गये हैं। लेकिन कहीं भी ऐसा नियम नहीं है कि, द्राविड भाषा शब्दों के लिए वे ही शब्द मूलाधार हों। दूसरे शब्द को भी ले सकते हैं। इसी उद्देश्य से कुछ पंडित काल्डुवेल से उद्धृत 'अप्पन' आदि शब्दों को 'अंबः' आदि संस्कृत शब्दों से तुलना करके यह सिद्ध करने की कोशिश की कि, द्राविड भाषाएँ संस्कृत जन्य हैं।

काल्डु वेल के निम्नलिखित उदाहरण देखिए।

अंग्रेजी	संस्कृत	तमिल	
Kill	हन	कोल्,	
Eat	भक्ष	तिन्	
Tell	वद	शोल्	इत्यादि

इनमें अंग्रेजी शब्द का निकट संबंध संस्कृत से न हो कर तमिल से है। यह जानकर भी अंग्रजी और संस्कृत में निकटतर संबंध बताना-'स्ववचनव्याघात' है।

दूसरा उदाहरण लीजिए	अंग्रेजी	संस्कृत	तमिल
	Monkey	कपि	कुरंगु

इस उदाहरण से तीनों भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं। संस्कृत के 'कुरंग' शब्द का दूसरा अर्थ 'बन्दर' भी है। उनकी यह अज्ञानता बहुत ही चिंताजनक है। इतना ही नहीं, 'मन्की' और 'कपि' में किस प्रकार का निकट संबंध है, और ये कैसे एक आर्य कुटुंब के हो सकते हैं, यह केवल सर्वव्यापी साक्षात् भगवान् ही समझ सकता है। हम जैसे अल्पज्ञ मानव-मात्र नहीं। इसके बदले कन्नड़ के मंग (बन्दर) शब्द की 'मन्की' से तुलना करके कन्नड़ और अंग्रेजी को एक कुटुम्ब के अन्तर्गत, और कपि, कुरंगों की सभ्यता से संस्कृत और तमिल को दूसरे कुटुम्ब के अन्तर्गत सिद्ध क्यों नहीं कर सकते हैं। इसलिए वादाभिनिवेश बड़े से बड़े विद्वानों को भी गलत रास्ते पर ले जा सकता है।

पाणिनि के नवीन संस्कार द्वारा पुरानी संस्कृत भाषा के परिवर्तन की बात कह चुके हैं। अब पाणिनि के पूर्व काल के 'काश कृत्स्न' नामक वैयाकरण का 'धातुपाठ' मिला है। इस ग्रंथ में, व्याकरण और भाषा शास्त्र के अनेक अपूर्व सिद्धांत हैं। द्राविड भाषाओं में देश्य नाम से व्यवहृत शब्द, काल्डुवेल से उदाहरणार्थ चुने शब्द जैसे 'अप्पन' 'आयि' आदि शुद्ध संस्कृत सिद्ध हुए हैं। इसलिए इस सूची में काल्डुवेल से लिये गये तीस शब्द, उनसे कान्डुवेल की तुलना, के शब्द, पंडितों की संस्कृत मूल से तुलना, और 'काश कृत्स्न' के 'शब्द कलाप धातु पाठावलि' के शब्द दिये गये हैं —

	१	२	३	४	५
१.	Father	पितृ	अप्पन्	अंबः	"अप, अप्प—पालने; अप्पातीति अप्पः" (=पिता) अप्पा (= माता) पृष्ठ—४२
२.	Mother	मातृ	आयि	धात्रि	आयी ("अप वय पय मय चय तय रय—गतौ" (उत्तर भारत-मेमयी) आयते इति आयी (= माता) पृष्ठ १०६
३.	Son	सूनु	मग (न्)	महान्	"कुक, कुक्क······मग वग"—आदाने; मगते इति मगः (=मग (न्)) मगा (=मग (ळ्) (तमिल् और कन्नड में) पृष्ठ—८६
४.	Daughter	दुहितृ	मग (ळ्)	महती	

१, २, ३.—काल्डुवेल का क्रम (अंग्रेजी, संस्कृत और तामिल)।

४. अब तक के पंडितों के अनुमान के अनुसार आर्य भाषा मूल।

५. काश कृत्स्न का मूल।

१	२	३	४	५
५. Eye	अदित	कण्		"अण रण......कण किण....." —शब्दे; कणतीति कणु (कण्णु) तमिल और कन्नड, कन्नु तेलुगु पृष्ठ ३४
६. Mouth	मुख	वाय	वक्त्र	वायम् (ऊपर का २ का सूत्र देखिए)
७. Tooth	दंत	पल्		"फल, पल, पल्ल, वल वल्ल निष्पत्तौ" पालतीति—पल (कन्नड, तेलुगु तमिळ्) पृष्ठ—४४
८. Sun	सूर्य	ञायिरउ	नेसर (प्राकृत में)	+ "पिश—ममाधौ" नेशतीति नेशनम् (=नेसरु) कन्नड पृष्ठ—६३
९. Sky	दिव	वान्	व्योमन्	"वन पन संभक्तौ" वनतीति वान: (Rain) तेलुगु वान (= आकाश) कन्नड
१०. Water	अप (नीर)	नीर	नार नीर	"इन शब्दों को संस्कृत ने द्राविड भाषाओं से लिया है"—काल्डुवेल
११. Fish	मत्स्य (मीन)	मीन	मीन	(")
१२. Hill	पर्वत	मलै	मलय	"मल मल्ल मुल मुल्ल—धारणे" मलते इति मलेय:, मलय: मलै (तमिल्) मले (कन्नड) मल (तेलुगु) पृष्ठ— ११३
१३. Stone	अश्मन्	कल	ग्रावन्	"मल मल्ल कल कल्ल—धारणे" कलतीति कल् (ते, क, त) "कल—संख्याने" कलते इति कल् (=पाषाण) पृष्ठ ४५,११४
१४. House	वेश्मन्	इल्	निलय्	"इल, इल्लै,—धारणे च" इला (=नेलम्) पृ० २२५
१५. Village	ग्राम	ऊर्	पूर (पुर)	
१६. Elephant	हस्ति	आवै	अनेकपा	"इवस, अन—प्राण ने" आना (=हाथिन्) आनै (त, क) रानुगु (तेलुगु) पृष्ठ १६९
१७. Cow	गो	आ		"अव रक्षा,— पालने" अवतीति आवु: आवु (तेलुगु) पृ० ३५

१	२	३	४	५
१८. Baffalo	महिषा	एसमें	हेरेब	"हेरेबतीति हेरंब:" (=भैंसे) यम्मे (क) एनुम् (तेलुगु) पृष्ठ—३२
१९. Dog	श्वान	नाय्		"णय—रक्षेण च" नाय् (कुत्ता) नायी (कुतिया) पृ० ११० नाय: (=कुक्कुर:); नायी (=कुकुरी) पृ १५९ नायि (ते, क, त) तेलुगु में 'नायि' अब व्यवहार में नहीं है। यह 'नन्ने चोड़ नामक एक प्राचीन महाकवि के प्रयोग में है।'—(=दोंतुचु चेरि नायि दोपि ने चुंगाक)
२०. Tiger	व्याघ्र	कडुवाय	पुलि	"पुलि—महत्वे" पुलि (ते, क, त) यह—हेम चंद्र के 'देशी नाम माला' में देशीय कहा गया है
२१. Monkey	कपि	कुरंग-उ०	...	'कुरंग' शब्द का दूसरा अर्थ वंदर है ही।
२२. Eat	भक्ष	तिन्	...	"तृण-अदने" तृणोति: तिन (ते० क-त) पृ० २३९
२३. Drink	पा	कुडि	...	"कुडि–दाहे", पृ० ९९
२४. Walk	पर	एगु	...	"ईंङ्-गतौ" एगु (ते त) पृ० १७७
२५. go	गम्	पो	...	"पीङ्-गतौ" पो (ते त-क) पृ० १२६
२६. Tell	वद	झोल्	...	"शल्ल-कथने" शोल (त) पृ० १०६
२७. Kill	हन्	कोल	...	"कोलृ, खोलृ-गति प्रतिघति" कोल (मारना) पृ० ५१
२८. Bear	ऋक्ष	करिडि	...	"ऋुड, ऋूड, यालने" ऋूडतीति ऋूड: (= करिडिप्त. क) पृ० ३७
२९. Sour	आम्ल	पुलि	...	पुलि (=आम्लम्) पृ० १४७ पुलि: और पुळ: (=इमली) (त) पृ० ४८
३०. Run	ह	ओड-ड	...	वाहम् (ओडुगे) (क) ओडु (ते त)

पृष्ठ ६ के उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि अब तक जो शब्द द्राविड देश्य नाम से व्यवहृत थे, वे सब संस्कृत शब्द ही हैं या संस्कृताधार शब्द हैं। इसके उपफल के रूप में नीचे की सूची को देखिये।

"काश कृत्स्न" के 'शब्द कलाप धातु पाठ' में निम्नलिखित सारे शब्द संस्कृत शब्द बतलाये गये हैं।

तेलुगु देश्य

१. मंटः १७
२. चुट्टः १९
३. वंटः २०
४. गोडा (=गोड) २३
५. अड्डम् २३
६. कड्डायम् २३
७. गड्डम् (चिबुक) २३
८. कड्डि (=तृण) २३
९. मड्डि (=कवळम्) २४
१०. मुड्डिः (अमुग) २४
११. बुड्डा (बुद्बुद्) २४
१२. गिडि (=शृंगारिक) २७
१३. गूडु (पक्षिगृहः) २७
१४. तोपु (बन) २९
१५. वानः (वर्ष) ३८
१६. अंबलिः (जोन्नगंणि) ३१
१७. अप्पः (पिता) ४२
१८. अप्पु (ऋणम्) ४२
१९. अब्बः (पिता) ४२
२०. कलः (अष्टि) ४४ कोल (त. क)
२१. पल (दतं) (वे. त. क) ४४
२२. चिल्लिः (=रुद्र) ५०
२३. कल (पापाण) (ते. क. त) ४५
२४. आवुः (=गो) ५५ (आ-त)
२५. कोकः (स्त्री वस्त्रम्) ८८
२६. वागुः (छोटी नदी) ८९
२७. विगः (गर्व) ९०
२८. मंचुः (हिम) ७४
२९. मै (शरीर) (ते. क. त) ५२
३०. आकु (कर्ण भूषण) १३९
३१. चाकलः (रजक) १३८
३२. चाकली (रणकस्त्री) १३९
३३. रागी (एक दाना) (ते. क.) १५९
३४. अत्ति (उदुंबर) १६२
३५. जीडुः (युगळः) २२०
३६. तेलः (वृश्चिकः) २२६
३७. मोटुः (मोटा) २२६
३८. तोडुः (सहाय) २२६
३९. नूना (तैलम्), नूने (ने) २३९
४०. मुट्ट (=उपकरण) २५६
४१. ताडुः (पग्गमु) २५९
४२. कडा (अग्रम्) २२९
४३. जुन्नुः (जुन्नुपालु) ३९
४४. गारः (गच्चु) गारे (क)
४५. गरिक तृण) ३३
४६. पनिः (कर्म) १०८
४७. वला (जाल) ४५ वले (क)
४८. पिट्टः (=पक्षि) २०

निम्नलिखित तेलुगु तद्भव केवल संस्कृत हैं।

१. जाणः (ते-जाण, क-जाणे (सं) ज्ञानम् १३५
२. कंथः (सं स्तंभ) ७७ कंब (ते. क)
३. कुक्रभ (क्रत्त) ते (कुक्क) ८९
४. कंचु (सं) कँस्य) (ते, क) कंचु ९६
५. कमु (कर्प) (ते. त. क) १५०
६. काडुः (अरण्य) (ते. क. त) काड
७. पिल्लिः (पिल्ली) (हिन्दी-बिल्ली
८. कल्ल खल्ल (=कंचे) ४८

निम्नलिखित कन्नड़ देश्य संस्कृत ही हैं।

१. दड्ड: (=बुद्धिहीन:) २५
२. मण् (ऋन्नु) (त.क) मन्नु (तेलुगु) २५
३. हण: (=) ३३
४. हुडि (=धूलि) ते. त. पोडि
५. घन: (=पशु) वन (क)
६. हुळ (=पुंडु) त. व्रण ते ३६
७. जेनु (=मधु) ३६
८. चन्न: (सौंदर्य:) ३६
९. गाळभ् (मथुरा की लकडी) ते गालमु (४७)
१०. बिल (यापम्) ते. विल्लु त. विल् ४७
११. अल: (वट वृक्ष:) त, क.
१२. गूळ: (वृषभ:) ते. क.
१३. पंगु: (दीवटिक) ६५
१४. उद्दू: (माषधन्य) ते. उद्दुलु त. उलुंदु ८४
१५. तायि: तायी (क.ते) तायी (माँ) ११२
१६. हुलि: (शार्दूल) १४७ (पुलि-ते.त.क)
१७. अण्टु (अंत) १५१
१८. आल: (गहराई) १५७
१९. रागी (एक दाना) १५७ (ते रागि)
२०. अन्.आन् (मैं) .१६९
२१. हावु: (साँप) (ते. पामु) (त-पाम्बु) १७५
२२. कीण: (भस) २२१
२३. तोडु (सहाय) २२६
२४. तोळु: (कंधा) २६१
२५. बोळु: (मुंडनम्) २६२
२६. जीडी (कर) २६६
२७. कणिका (कण). ते कनुका
२८. गिलि: (तोता) त- किळि; क गिळि; ते. चिलुका
२९. विल् (धनुस्मु) ते. त. विल्
३०. पोल: (आलसी) ४८
३१. पुळि: पुळि: (आम्लम्) ते पुलि त. पुलि ४८
३२. गूळि: (वृषभ) ४६ ते गुलि
३३. माणि: (=) ३३
३४. बेणम् ( ) ३७
३५. अण्ण: (ज्येष्ठ, त. अण: ते अन्न ७५

निम्नलिखित कन्नड तद्भव केवल संस्कृत है।

१. राय: (राजा) ६९
२. संजा (संध्या) ६५
३. कंभ (स्तंभ) ७७
४. कुते (=कुय) ते. क. त ६
५. तुंट: (दुष्ट) ते तुंट १७.

निम्नलिखित तमिल शब्द शुद्ध संस्कृत है।

१. पुळी (=आम्ल) १४७
२. पल (दंत) १४७
३. कल (पाषाण) ४५
४. तोट: (वनम्). ते तोट क. तोटे २२९
५. तोपु (वनम्) २९ ते. क.
६. कतु (ऋणम्) २५९
७. मंण (मन्तु.) क. मण्णु ते. मलु ३३
८. कड्वा: ( ) २३ ते कड्ड वाहु
९. कीलि: (मुर्गी) ते. कीडि. क. कोळिडा

सत्यवती महेन्द्र

नाममाला-साहित्य

नाम का महत्त्व और परिभाषा

ऋक प्रातिशाख्य (१२, ५) अथर्व प्रातिशाख्य (४, १) और यजु: प्रातिशाख्य (८, ५५) ने संज्ञा उसे बताया है जिसके द्वारा सत्त्व (वस्तु) का बोध कराया जाय।[1]

नामकरण का महत्त्वः—ऋग्वेद (१०, ७१, १) का कथन है कि वाक्शक्ति के विकास का सर्वप्रथम कार्य था वस्तुओं का नामकरण। इसके लिए ऋषियों ने सर्वश्रेष्ठ एवं निर्दोष ज्ञान को, जो अज्ञात और अप्रकट था, उसको ज्ञात और प्रकट किया। अतएव छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि 'नाम रूपे व्याकरोत्' परमात्मा ने सर्वप्रथम वस्तुओं के नाम और स्वरूप का विभाजन किया है। जिससे यह ज्ञान प्रारम्भ हुआ कि किस वस्तु का क्या 'नाम' है और उसका क्या स्वरूप है।[2]

नाम का लक्षण और परिभाषा

पातञ्जलि का कथन है कि 'अर्थ गत्यर्थः शब्द प्रयोगः' अर्थात् अर्थ का ज्ञान कराने के लिए ही शब्द का प्रयोग होता है। अर्थ की नानार्थकता एवं संदिग्धता का निवारण करने के लिए कोई शब्द किसी निश्चित वस्तु का अर्थ बोध कराता है अर्थात् कोई शब्द किसी वस्तु का नाम बन जाता है।

नाम का लक्षणः—'यास्क' ने नाम का लक्षण करते हुए लिखा है कि नाम में सत्त्व (द्रव्य) की प्रधानता होती है (निरुक्त १, १)।

भर्तृहरि ने भी (वाक्यपदीय २,३४६ में) द्रव्य की प्रधानता को ही नाम की विशेषता मानी गई।

यास्क का स्थान 'नाम' पर विचार करने वालों में प्रमुख है। उसने इस पर कुछ विस्तार से चर्चा की है।

यास्क ने नाम का लक्षण स्पष्ट करते हुए जिन श्लोकों की रचना की है वे इस प्रकार हैं—

---

१. अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन—कपिल देव द्विवेदी (पृ० १३८)।
२. अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन—कपिल देव द्विवेदी (पृ० १३६)।

'सत्व प्रधानानि नामानि'—और आगे कहते हैं—

शब्देनोच्चरिते नेह, येन द्रव्यं प्रतीयते ।
तदक्षरविधौ युक्तं, नामेत्याहुर्मनीषिणः ॥१॥
अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते, नानार्थेषु विभक्तयः ॥
तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचनलिङ्गयोः ॥२॥
निर्देशः कर्म करणं, प्रदानमपकर्षणम् ।
स्वाम्यर्थोप्यधिकरणं, विभक्त्यर्थाः प्रकीर्त्तिताः ॥३॥

अर्थात् जिस शब्द में द्रव्य की सत्ता हो वह शब्द 'नाम' कहलाता है, भिन्न-भिन्न विभक्तियों, वचन और लिङ्ग के भेद से युक्त होना भी 'नाम' के लक्षण में है ।

शब्द के इस रूप-विशेष को 'नाम' क्यों कहा जाता है, इस पर भी 'यास्क' ने अपना अभिमत दिया है । उसका कथन है कि—

नमन्ति आख्यात शब्दे गुण-भावेन
यानि, तानि नामानि ।

अर्थात् नाम पद आख्यात के सम्मुख नमन करते हैं, झुक जाते हैं, इसीलिये नाम कहलाते हैं । आख्यात प्रमुख है नाम गौण, आख्यात वाक्य का 'राजा' है । तो नाम प्रधान-मंत्री' । और देखिये—

नमन्ति स्वमर्थम् आख्यात शब्द—
वाच्ये गुणभावेन इति नामानि ।

आख्यात के सम्मुख नाम शब्द अपने अर्थ को गौण कर देते हैं इसी कारण 'नाम' की उपाधि से विभूषित किये जाते है ।

नाम में 'सत्त्व' की प्रधानता रहती है । जिस वस्तु का कोई न कोई 'लिङ्ग' अथवा 'वचन' हो वह द्रव्य-प्रधान अथवा सत्त्व-प्रधान कहलाती है । प्रत्येक नाम इन गुणों को धारण करता है ।

(२) **शब्दों के वर्गीकरण में 'नाम' का स्थान**:—यास्क ने अपने निरुक्त में शब्दों का चार प्रकार से वर्गीकरण किया है—

"नामाख्याते चोपसर्गनिपातश्च"

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात चार प्रकार के पद या शब्द होते हैं । नाम और आख्यात प्रधान पद हैं और उपसर्ग और निपात गौण हैं । नाम और आख्यात उपसर्ग और निपात की सहायता के बिना भी अपना अर्थ प्रकट कर सकते हैं किन्तु उपसर्ग और निपात नाम और आख्यात की सहायता के बिना अपना अर्थ प्रकाशित नहीं कर सकते । इस कारण वाक्य में नाम और आख्यात प्रधान हैं तथा उपसर्ग और निपात अप्रधान हैं । नाम और आख्यात वाच्य अर्थ वाले कहलाते हैं और उपसर्ग और निपात द्योत्य अर्थ वाले ।

नाम और आख्यात—नाम और आख्यात एक दूसरे पर निर्भर हैं। जब हम 'यज्ञदत्तः' कहते हैं तो हमारा अभिप्राय तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक कि हम उसके आगे 'पचति' या 'पठति' इत्यादि शब्द न लगा दें।

दूसरी बात यह है कि 'नाम' और 'आख्यात' दोनों ही वाच्य अर्थ से अर्थवान होते हैं। मैक्समूलर ने बताया है कि पैल्टो तथा अरिस्टाटल के मत से भी संज्ञा तथा क्रिया भाषा के दो प्रधान अंग है।

नाम में आख्यात का रहना:—नाम पद के तीन विभाग होते हैं—प्रकृति (धातु), प्रत्यय (अक आदि) और विभक्ति प्रथमा आदि। उदाहरण स्वरूप 'पाचकः' शब्द को लीजिये, इसमें 'पच' धातु है, 'अक' प्रत्यय है तथा प्रथमा विभक्ति है।

इस 'पाचक' नाम में 'पच' धातु विद्यमान है किन्तु वह अप्रधान है, प्रत्यय तथा विभक्ति की ही इस शब्द में प्रधानता है। 'नाम' में क्रिया या आख्यात अवश्य रहता है किन्तु गौण रूप से। जब हम 'पचति' क्रिया को उदाहरण स्वरूप लेते हैं तो देखते हैं कि इसमें प्रत्यय आदि अप्रधान रूप से आये हैं किन्तु जो धातु या प्रकृति 'पच' है उसका ही अर्थ प्रमुख है। इसी कारण यह आख्यात कहाता है। आख्यात में क्रिया की प्रधानता रहती है। किसी प्राचीन आचार्य ने कहा है—

क्रियावाचक माख्यातं, लिङ्गतो न विशिष्यते।
त्रीनत्र पुरुषान्विद्यात् कालतस्तु विशिष्यते॥

आख्यात 'क्रिया' प्रधान होता है, यह लिंग आदि को विशेष स्थान नहीं देता। तीनों पुरुषों और काल का जो योग आख्यात में रहता है उसका कारण भी यह है कि आख्यात के मूल में क्रिया रहती है।

कुछ व्यक्तियों का यह कथन है कि आख्यात में द्रव्य प्रधानता नहीं होती। द्रव्य प्रधानता। नाम का ही लक्षण है तो 'पाचक' आदि शब्द में लिङ्ग तथा वचन प्रधान है जैसे पाचकः (पुल्लिङ्ग), पाचिका (स्त्रीलिंग) और 'पाचकम्' नपुंसक लिंग बनता है। शाब्दिक लोगों के अनुसार लिङ्ग और वचन ही नाम का लक्षण है। किन्तु क्या आख्यात में लिङ्ग एवं वचन नहीं रहते? उसमें भी अवश्य होते हैं। आख्यात पदों में जब हम 'पचति' 'पचतः' 'पचन्ति' को लेते हैं तो यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि इनमें भी 'रामः रामौ रामाः की भांति संख्या का योग है अर्थात् आख्यात में भी 'द्रव्य' रहता है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि आख्यातं में, भाव, कारक, काल तथा संख्या चार वस्तुएँ पायी जाती हैं तथा उसमें भाव की प्रधानता होती है। अर्थात् 'क्रिया' प्रधान होती है।

"क्रियाप्रधानमाख्यातम्"

'नाम' में भी द्रव्य, संख्या, सत्ता और लिङ्ग चार वस्तुएं पायी जाती हैं। किन्तु नाम में 'सत्व' या 'द्रव्य' की ही प्रधानता होती है।

'सत्वप्रधानानिनामानि"

यद्यपि दोनों ही अपने अपने स्थान पर गौरव से मस्तक उठाये खड़े हैं, दोनों ही पद स्वाधीन हैं, स्वतन्त्र हैं। एक भाव प्रधान है तो अन्य द्रव्य प्रधान। किन्तु जब भाषा के बंधन में दोनों बँधते हैं तो एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं। यदि हम 'पचति' कहें तो 'देवदत:' पद के बिना इसका कोई प्रयोजन नहीं होता। दोनों की सम्मिलित शक्ति से ही भाषा का रथ आगे बढ़ता है। किन्तु जब वाक्य के सूत्र में दोनों ही 'नाम' और 'आख्यात' गुँथ जाते हैं तब क्रिया प्रधान हो जाती है, भाव की प्रधानता तथा द्रव्य की गौणता हो जाती है—

"तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवत:।"

(निरुक्त)

वाक्य में क्रिया ही 'साध्य' होती है और कारक आदि उस क्रिया के 'साधन' मात्र हैं। अत: नाम और आख्यात के समुपस्थित होने पर भाव की या क्रिया की प्रधानता हो जाती है।

"अपिच ल: कर्मणि च
भावे च कर्मकेभ्य: कर्त्तरि शप्।"

इत्यादि अनेक पाणिनि सूत्र भी इस बात को प्रमाणित करते हैं कि आख्यात् में द्रव्य का स्वरूप विद्यमान रहता है।

यदि हम कहें कि लिंग के कारण जैसा विकार 'नाम' शब्दों में हो जाता है वैसा क्रियाओं में नहीं होता तो यह बात भी पूर्ण प्रमाण उपस्थित नहीं करती। 'युष्मद्-अस्मद' आदि शब्द, द्रव्य वाचक हैं किन्तु इनमें लिङ्ग के कारण हुई विकृति का पूर्ण अभाव है जैसे :—

'त्वं पुमान्' 'त्वं स्त्री' 'त्वं ब्राह्मन' आदि

सारांश यह है कि आख्यात में भी 'नाम' की भाँति द्रव्य-वाचकता या द्रव्य-प्रधानता होती है तब नाम और आख्यात में अन्तर ही कैसा ? किन्तु हम कह सकते हैं कि 'नाम' की द्रव्य-प्रधानता स्थायी और नित्य होती है, किन्तु 'आख्यात' की द्रव्य-प्रधानता अस्थायी होती है जो अपना कार्य करके लय हो जाती है। वह शब्द के अनुशासन के लिए अनिवार्य है इसी कारण आख्यात में उपस्थित हो जाती है। जिस प्रकार राजा की शक्ति परराष्ट्र में 'गौरवमय नहीं रहती' उसी प्रकार 'नाम' के अन्दर जो 'धातु' रहती है वह भी श्री हीन हो जाती है और अख्यात में जो 'द्रव्य' या 'सत्व' रहता है वह भी शक्ति हीन हो जाता है।

नाम की उत्पत्ति प्रथम हुई या आख्यात की:—

आख्यात की उत्पत्ति प्रथम हुई या नाम की यह भी एक विवादग्रस्त प्रश्न है जिस पर विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न तर्क दिये हैं। किशोरीदास बाजपेयी जी

'हिन्दी शब्दानुशासन' में लिखते हैं कि "भाषा का उद्भव धातुओं से हुआ है।"[3] इस दृष्टि से ये आधुनिक हिन्दी विद्वान निरुक्त सम्प्रदाय के हैं।

आदि काल में मानव वनों में घूमता रहता था। जब वृक्षों से पत्ते गिरते थे तो 'पत् पत्' की ध्वनि होती थी। इस नीचे गिरने की क्रिया के संकेत रूप में 'पत्' शब्द का प्रयोग होने लगा। इस 'पत' शब्द ने धातु का रूप धारण कर लिया जिससे कि 'पत' 'पतिसि' इत्यादि पुरुष भेद के अनुसार धातु रूप बन गये। 'त्वं' और 'अहं' के साथ साथ 'पत्' धातु के प्रत्यय भी परिवर्तित होने लगे। और 'पत्' धातु से ही 'पत्र' नाम की उत्पत्ति हो गयी। इस प्रकार प्रथम आख्यात तत्पश्चात् 'नाम' शब्द बने। इस सम्बन्ध में बहुत से व्याकरणवेत्ता सहमत हैं और कहते हैं कि 'कर्त्तृ' शब्द जिसका अर्थ है 'करने वाला 'कृ' धातु से निकला है, तथा 'पावक' नाम शब्द 'पच' धातु या आख्यात से बना है। प्राचीन वैयाकरण तथा दार्शनिक शाकटायन भी इस बात से सहमत हैं तथा उन्होंने एक बड़ा संप्रदाय चलाया जिसका नाम 'नैरुक्त' रखा जिसमें कि प्रत्येक शब्द की क्रियामूलक उत्पत्ति दिखलायी गयी है। किन्तु यास्क दोनों प्रकार के तर्क देता है: इस मत के अनुकूल भी तथा प्रतिकूल भी। शब्दों के चारों प्रकार बताने के उपरान्त वे कहते हैं कि—

Sakatayan maintains that nouns are derived from verbs, and there is an universal agreement of all etymologists (Nairuktas) on this point. Gargya, on the contrary, and some of the grammarians say, not all nouns are derived from verbs."[4]

गार्ग्य का मत नामों की उत्पत्ति के विषय में

गार्ग्य के मतानुसार नामों के तीन विभाग हैं १. प्रत्यक्षक्रिय, २. प्रकल्पक्रिय, ३. अविद्यमान क्रिय। प्रत्यक्षक्रिय में कारक हारक इत्यादि शब्द आते हैं। प्रकल्प क्रिय में गौ: अश्व: इत्यादि शब्द आते हैं; अविद्यमानक्रिय शब्द डित्थ, डवित्थ, अरविन्द, अर्वाङ, चन्द्र इत्यादि।

जिन नामों में स्वर उदात्त आदि तथा प्रकृति एवं प्रत्यय के रूप लक्षण-शास्त्र में विहित उपपत्ति से युक्त हों, तथा जिन धातुओं से वे नाम निकले हों, उनसे अनुगत होते हों, वे ही नाम प्रत्क्षक्षक्रिय कहलाते हैं जैसे—कारक, हारक आदि।

जिन नामों में क्रिया का स्पष्ट रूप से साक्षात नहीं होता, किन्तु कल्पना के द्वारा ही उसकी सत्ता ज्ञात होती है, वे प्रकल्पक्रिय नाम होते हैं। जैसे—गौ, अश्व इत्यादि।

किन्तु कुछ नामों में क्रिया की कल्पना भी नहीं की जा सकती, इस कारण ऐसे नाम अविद्यमानक्रिय या रूढ़ि शब्द कहाते हैं। डित्थ:, डवित्थ, अरविन्द इत्यादि शब्दों में क्रिया अथवा धातु की कल्पना करना असम्भव है।

---

३. हिन्दी शब्दानुशासन, किशोरीदास बाजपेयी। पृष्ठ ३९८

४. Ancient Sanskrit literature—Max Muller Page 85

(१) जब कुछ नाम ऐसे हैं, जिनमें धातु का अंश अदृष्ट है और क्रिया या धातु की उनके सम्बन्ध में कल्पना भी नहीं की जा सकती तब यह कहना कि प्रत्येक नाम धातु से निकला है उचित नहीं ।

(२) इस सिद्धान्त को मानने में दूसरी आपत्ति यह है कि जो भी किसी विशेष कर्म अथवा क्रिया को करेगा उसका नाम उसी क्रिया के आधार पर रखा जाना चाहिए। जो कोई भी मार्ग को 'अशन' या 'व्यापन' करेगा वही 'अश्व' की उपाधि से विभूषित होना चाहिए, तथा तर्दन करने वाली प्रत्येक वस्तु को तृण कहा जाना चाहिए । किन्तु 'अश्व' को 'अशन' न करने पर भी अश्व कहते हैं और तृण को तर्दन की क्रिया न करने पर भी तृण कहा जाता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि क्रिया से ही सब नाम नहीं उत्पन्न होते । सब नाम आख्यातज नहीं हैं ।

(३) जिस द्रव्य में जितनी क्रियाएँ होती हैं, उतने ही उस वस्तु के नाम होने चाहिए । जैसे कि खम्भे को 'स्थूण' कहा जाता है, किन्तु दर में शयन करने से 'दरशया' तथा बाँस से पिरोये होने के कारण उसे 'सञ्जनी' भी कहा जाना चाहिए, पर वह इन नामों से पुकारा नहीं जाता । इस कारण यही कहना पड़ता है कि सभी नाम आख्यातज नहीं हैं ।

(४) सब नाम यदि धातुओं से उत्पन्न होते हैं तो सभी द्रव्यों को ऐसे नामों से पुकारना चाहिए, जिनसे उन वस्तुओं की क्रियाओं की स्पष्ट प्रतीति होती हो । जैसे पाचक, लावक आदि शब्दों से क्रिया की प्रतीति होती है वैसे ही पुरुष को 'पुरिशय', पुरी में रहने वाला, तथा अश्व को 'अष्टा' अशन करने के कारण तथा तृण को 'तर्दन', फाड़ने वाला कहेंगे । किन्तु प्रत्येक 'नाम' से द्रव्य की क्रिया का आभास नहीं मिलता । इस कारण यही कहना पड़ता है कि प्रत्येक नाम आख्यात से उत्पन्न नहीं है ।

(५) 'पृथिवी' इस शब्द का उद्भव 'प्रथन' शब्द से हुआ है जिसका अर्थ है फैलाना,' किन्तु पृथिवी को किसने फैलाया । प्रथन करने वाले ने निराधार होकर किस प्रकार पृथ्वी को फैलाया क्योंकि पृथ्वी ही सर्व प्राणियों का एकमात्र आश्रय है । अनाधार अथवा अलौकिक व्यक्ति ने पृथ्वी का प्रथन किया यह बात भी अविश्वसनीय है अतः पृथिवी नाम प्रथन क्रिया के अभाव को ही सूचित करता है ।

(६) गार्ग्य मुनि का कथन है कि शाकटायन ने सब नामों को आख्यातज सिद्ध करने के लिए कहीं पर एक नाम को अनेक धातुओं से, कहीं एक धातु से उत्पन्न बतलाया है और कहीं पूरे आख्यात के अर्द्धखण्ड से नाम की उत्पत्ति बतलायी है। 'सत्य' नाम को ही लीजिये इसमें पहला टुकड़ा 'अस' धातु का 'सत्' बनाकर रखा गया है तथा दूसरा खंड 'इण' 'गतौ' धातु के 'आययति' पद से 'य' लेकर मिलाया गया है। इस प्रकार दो धातुओं के खंड लेकर 'सत्य' शब्द का निर्माण किया गया है ।

(७) कुछ विद्वानों का कथन है कि 'क्रिया' से प्रथम द्रव्य की उत्पत्ति होती है द्रव्य से ही क्रिया उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में क्रिया जो बाद में उत्पन्न हुई है उससे द्रव्य की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी ।

किन्तु शाकटायन का कथन है कि प्रत्येक नाम क्रिया से उत्पन्न हुए हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने तर्क भी दिये हैं।

शाकटायन का मत : नामों की उत्पत्ति के विषय में

यास्क इस सम्बन्ध में जो कहते हैं उसे मैक्समूलर के शब्दों में यहां दिया जाता है—

"Sakatayan's opinion were right, all words would be significative, this we consider no objection, because we shall show that they are all significative. With regard to the second point, our answer is, that we see as a matter of fact that it is not so but that of a number of people who perform the same action, some only takes a certain name and others do not. Not every one that shapes a thing is called 'takshan', a shaper, but only the carpenter. Not every one that walks about is called a 'parivrajiki' but only a religious mendicant. Not every thing that enlivens is called 'jivana', but only the sap of the sugarcane. Not every thing that is born of 'Bhumi' is called 'Bhumija', but only the planet Mars (angaraka) and the same remark serves also as an answer to the third objection. With regard to the fourth objection, we reply, we did not make these words, we only have to explain them; and there are also some nouns of rare occurence, which you, grammarians, derive by means of krit-suffixes, and which are liable to exactly the same objection. For who could tell, without some help from etymologists, that some of the words mentioned in Aikapadika-chapter mean what they do mean? 'Vratati' is derived by you from 'vrinati', he elects, but it signifies a garland. The same applies to your grammatical derivations of such words as, 'jatya', 'atnara', 'jagaruka'. In answer to the fifth objection we say, Of course we can discuss the etymological meaning of such words only as have been formed. And as to the questions who stretched the earth, and what was his resting-place, all we can say is, that our eyes tell us that the earth is broad and even though it has not been stretched out by others you and all men speak as they see. With respect to the sixth objection we admit, that he who combines words without thereby arriving at their proper meaning, is to be blamed. But this blame attaches to the

individual etymologist not to the science of etymology. As to the last objection we must again appeal to the facts of the case. Some words are derived from qualities, though qualities may be later than subjects, others not."[५]

यास्क के उपर्युक्त विवेचन के अनुसार शाकटायन इस मत के मानने वाले थे कि सभी 'नाम' शब्द आख्यातज हैं। बहुत से नाम शब्द तो क्रियाओं से निकले हैं किन्तु बहुत से ऐसे नाम शब्द हैं जो कि द्रव्य प्रधान है और अभिधान सूचक तथा पदवी सूचक है प्रत्येक भाषा में कोई नाम 'सूर्य' 'चन्द्र' तथा अन्य वस्तुओं का सूचक क्यों बन जाता है ? इस सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि यह इतने स्वाभाविक रूप में होता है कि भाषा का विज्ञान भी विज्ञान के कठोर नियमों का अनुसरण नहीं करता।

निरुक्त और व्युत्पत्ति-विज्ञान

प्राचीन वैदिक शब्दों को समझाने के लिये उनकी व्युत्पत्ति बताने तथा पर्य्याय-वाची शब्दों को समझाने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत सी सामग्री है और निरुक्त का मूलाधार भी यही ब्राह्मण ग्रन्थ है। सभी कविताएँ और स्तोत्र संक्षेप में समझाये गये हैं और आरण्यक तथा उपनिषद् निरुक्त से भी वैदिक व्युत्पत्ति के लिये अच्छे साधन सिद्ध हुए। ऋग्वेद, निघण्टु और निरुक्त के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों का मत है कि प्रजापति कश्यप ने वेदों के अनेकार्थी, एकार्थक शब्दों, तथा दुरूह शब्दों का संग्रह किया। इसी संग्रह को निघण्टु के नाम से अभिहित किया गया। निघण्टु वेदों का निगमन या बोध कराने का साधन है। निघण्टु वैदिक शब्दों का कोष है।

यास्क ने जिस निघण्टु पर निरुक्त लिखा है, उसे सभी वेदज्ञाता महाभारत के प्रमाणों के आधार पर कश्यप द्वारा विरचित मानते हैं, परन्तु दयानन्द सरस्वती जी के मत से वह यास्क द्वारा ही लिखा गया है। भगवद्दत्तजी भी इस बात से सहमत हैं। भगवद्दत्तजी ने "आथर्वण परिशिष्ट" को भी कौत्सव्य कृत निघण्टु माना है। एक निघण्टु को उन्होंने पूना के 'पाठक स्मारक ग्रन्थ' में छपवाया था। उनके विचार से यास्क ने जिन निरुक्त-प्रणेताओं का उल्लेख अपने निरुक्त में किया है, उन सबने निघण्टुओं की भी रचनाएँ की थीं। इस प्रकार १५-२० निघण्टुओं की रचना की गयी; किन्तु प्रचलित केवल एक ही है जो कि यास्क का निरुक्त है।

डॉ० सम्पूर्णानन्द जी निघण्टु और निरुक्त के विषय में लिखते हैं—

निरुक्त के कार्य

"निरुक्त" शब्द 'वेदों के दुरूह शब्दों की व्याख्या करने वाले शास्त्र' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह रूढ़ अर्थ है। निघण्टु में वेदों के कठिन शब्दों की एक क्रमबद्ध तालिका है और निरुक्त में इन शब्दों की व्युत्पत्ति दिखायी गयी है। यास्क के मत से सभी शब्द धातुओं से उत्पन्न हुए हैं। शब्द-व्युत्पत्ति दिखाकर इस मत को यास्क ने परिपुष्ट किया है। निरुक्त के सम्बन्ध में कहा गया है—

५. Ancient Sanskrit Literature, Max Muller, page 86—87.

"वर्णागमो वर्ण-विपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण विकार नाशौ ।।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यतेपञ्चविधं निरुक्तम् ।"

अर्थात् निरुक्त के पाँच कार्य हैं—वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्णनाश, और धात्वर्थ सम्बन्ध। ये पाँचों बातें व्याकरण में हैं। इस कारण निरुक्त को व्याकरण कहा जाता है। कई वेदज्ञ कहते हैं, प्रातिशाख्यों में वैदिक व्याकरण की जो त्रुटियाँ रह गई हैं, उन्हें दूर करने के लिये निरुक्त-शास्त्र की रचना करनी पड़ी।[६]

अध्याय

यास्क के निरुक्त में बारह अध्याय हैं। परिशिष्ट रूप में दो अध्याय और हैं। सायण के मत से १२ ही यास्क कृत हैं। इसके दो पाठ है—गुर्जर पाठ (लघु पाठ) और महाराष्ट्र पाठ (वृहत्पाठ)।

संस्कृत में ऐसे कई कोष हैं जिनमें शब्दार्थ किया गया है; परन्तु वैदिक शब्दों के प्रतिशत १४ शब्दों का ही इसमें अर्थ मिलता है। राथ्, बोहत्-लिंगस्, स्मिट्, मोनियर, बेनफे, मैकडानल आदि ने भी वैदिक कोष लिखकर मन्त्रार्थ करने की चेष्टा की, परन्तु इनमें न तो पूर्वी विद्वानों के किये गये अर्थ हैं न नये विद्वानों के मत ही हैं। इसलिये ये सभी अपूर्ण हैं। इस क्षेत्र में निघण्टु और निरुक्त सर्वाधिक सहायक हैं।

निरुक्त के तीन विभाग

निरुक्त ही सर्व प्रथम वैदिक शब्द कोष है। इसके तीन विभाग हैं। प्रथम भाग नैघण्टुक है, द्वितीय नैगम और तृतीय दैवत है।

निघण्टु ऐसे शब्दों का विवेचन करता है जो कि पर्यायवाची हों। इसमें तीन भाषण हैं। प्रथम में समय और स्थान से सम्बन्धित शब्द हैं। द्वितीय में मनुष्य और उससे सम्बन्ध के शब्द हैं और तृतीय में इन सब शब्दों के गुण सूचक शब्द हैं; जैसे दुर्बलता, लघुता आदि।

निगम का अर्थ है वेद। यास्क ने बहुत से वेद के उद्धरण भी उद्धृत किये हैं, और द्वितीय भाग के चारों अध्यायों में वैदिक शब्द हैं। इसीलिये यह नैगम कहलाता है।

तृतीय भाग में पाँच अध्याय हैं जिसे दैवत् (Daivata) कहते हैं। यह भाग देवों से सम्बन्धित है, जो कि अग्नि से प्रारम्भ होता है और देवपत्नियों पर समाप्त होता है।

अमरकोष की रचना निघण्टु के बाद हुई। और भी कई कोष बतलाये गये हैं किन्तु उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी हस्तगत नहीं होती। जैसे सर्वकोश रन्ति और रन्तिदेव कोष, यादव कोष, बाला कोष आदि।

निरुक्त और अमरकोष

निरुक्त के बहुत से शब्द अमरकोष में मिलते हैं तथा बहुत से नहीं मिलते।

---

६. वैदिक साहित्य, लेखक—रामगोविन्द त्रिवेदी, पृष्ठ २१८, २१९, २२०।

यास्क और अमरकोष के बीच में जो अन्तर है वह शताब्दियों का है। बहुत से शब्द इस बीच में अप्रयुक्त तथा अप्रचलित हो गये। उनके विलुप्त हो जाने का इतिहास ढूंढना असम्भव है।

निरुक्त के प्रथम तीन अध्यायों में जो शब्द हैं, वे अमर कोष में नहीं मिलते।

अतिसर्ग,	उपाचार	विकरण
अभिव्याहार,	उपसन्न	भूमिज
अम्युच्चय	निपात	स्वाङ्ग
अमुथा	परिभय	सीभिका
अयुत	परोवर्य	इत्यादि
	प्रभाग	
	बिल्वाद	
	विकरण	

निम्नलिखत शब्द अमरकोष में मिलते हैं; परन्तु उनका भिन्न अर्थ है। अपदेश (१।७।३३।) अपवर्ग (।१।५।७।) आश्चर्य (१।७।१९) नित्य (१।१।६९) वध (२।८।११५) वाचोयुक्ति (३।१ ३५) व्यय (३।२।१७) शव (२।८।११८)।

अमरकोष में उपयम और उपयाम (२।७।५६-५७) शब्द हैं परन्तु उपयमन नहीं है, परिव्राज् (२।७।४२) शब्द है परन्तु परिव्राजक नहीं है, भौम (१।३।२५) शब्द है परन्तु भूमिज नहीं है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य से संबंधित निरुक्त और उसके बहुत बाद के 'अमरकोष' की यह संक्षिप्त तुलना भाषा-शास्त्र के इस नियम को स्पष्ट करती है कि शब्द काल-चक्र मे पड़कर केवल अपना रूप और अर्थ बदलते ही नहीं, वे प्रयोग-वाह्य हो कर लुप्त भी हो जाते हैं, और नयों का आगम भी प्रयोग में हो जाता है। इसी कारण समय समय पर नये नये कोशों का निर्माण किया जाता है।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि 'नाम-कोष' अथवा 'नाम माला' की परम्परा का उद्‌भव वैदिक युग में यास्क की 'निरुक्ति' से भी पूर्व हो चुका था।। और उसमे दिये हुए निघण्टु के बदले नाम-कोशों की, विविध रूपों में कालानुसार 'शब्द कोशों' की आवश्यकता को संतुष्ट करने के लिए रचना होती रही। इसको संक्षेप में यहाँ दिग्दर्शित कराया जाता है।

कोषों का इतिहास

संस्कृत के शब्दकोष:—'कोष ग्रन्थ निघण्टु परम्परा के ही अविच्छिन्न रूप हैं। निघण्टु में वैदिक शब्दों का संग्रह है। उसी की व्याख्या निरुक्त नाम से यास्क ने की है। निरुक्त में संज्ञा शब्दों और धातुओं दोनों का वर्णन है। इन कोष ग्रन्थों में शब्दों को

अकारादि क्रम से नहीं रखा गया है। उनको पद्य रूप दिया गया है। उनके श्लोकों को स्मरण किया जाता है।[७]

भगवद्दत्त जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं:—निरुक्त सबसे पुराना ग्रन्थ है, जो इस समय मिलता है और उसमें वेदार्थ का विस्तृत निदर्शन है। यह ऋग्वेदीय लोगों के पठितव्य दस ग्रन्थों में से एक है। निरुक्त का मूल निघण्टु है। निरुक्त और निघण्टु दोनों यास्क प्रणीत हैं। निघण्टु प्राचीन वैदिक कोषों का नमूना है।[८]

सबसे प्राचीन कुछ संस्कृत कोष ये हैं—कात्यायन कृत नाममाला, वाचस्पति का शब्द कोश, विक्रमादित्य का शब्द कोश, शब्दार्णव ग्रन्थ, संसारावृत्त, तथा व्याडिकृत उत्पलिनी। ये सभी ग्रन्थ अब नष्ट हो चुके हैं। आजकल सबसे प्राचीन जो शब्द कोष प्राप्त होता है, वह है—अमरसिंह कृत अमरकोष। अमरसिंह एक बौद्ध लेखक था। वह राजा विक्रमादित्य के नव रत्नों में से एक है। उसका समय ४०० ई० और ६०० ई० के बीच का माना जाता है। इस कोष का दूसरा नाम लिंगानुशासन है। इसमें प्रथम तीन काण्डों में समानार्थक शब्दों का वर्णन है। अन्त में नानार्थक शब्दों, प्रत्ययों तथा लिंगो का वर्णन है। अमरसिंह के समकालीन एक लेखक शाश्वत ने 'अनेकार्थ समुच्चय' ग्रन्थ लिखा है। हलायुध ने ९५० ई० के लगभग 'अभिधान ग्रन्थ माला' ग्रन्थ लिखा है। यादव प्रकाश ने ११ वीं शताब्दी के मध्य में वैजयन्ती ग्रन्थ लिखा है; इसमें समानार्थक और नानार्थक दोनों प्रकार के शब्दों का संग्रह है। अजयपाल (ई० १०७५-११४०) 'नानार्थ रत्नमाला' ग्रन्थ का लेखक माना जाता है। इसमें अनेकार्थक शब्दों का वर्णन है। १२ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ये ग्रन्थ लिखे गये:—

(१) केशव स्वामी ने 'नानार्णवसंक्षेप' ग्रन्थ लिखा। उसमें उन्होंने नानार्थक शब्दों के अर्थ और उनके लिंग लिखे हैं।

(२) महेश्वर ने 'विश्वप्रकाश' ग्रन्थ लिखा है—उसमें समानार्थक और नानार्थक शब्दों का वर्णन किया है।

(३) हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' ग्रन्थ लिखा। उसमें उसने समानार्थक शब्दों का वर्णन किया है। १२०० ई० के लगभग पुरुषोत्तम देव ने 'अमरकोश' का परिशिष्ट त्रिकांडशेष लिखा है। उसमें अधिकतर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित शब्द हैं। ये प्रयोग में कम आते हैं। भट्ट मल्ल ने समानार्थक धातुओं पर 'आख्यात चन्द्रिका' ग्रन्थ लिखा। वह १४ वीं शताब्दी से पूर्व हुआ था। हरिहर द्वितीय के मन्त्री इरूगप्प दण्डनाथ ने १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'नानार्थ रत्नमाला' ग्रन्थ लिखा है। वामनभट्ट बाण ने (१४२० ई०) दो कोश ग्रन्थ लिखे हैं—'शब्द-चन्द्रिका' और 'शब्द-रत्नाकर'। मेदिनीकर ने १४ वीं शताब्दी में नानार्थक शब्दों के विषय में 'अनेकार्थ शब्द कोश' ग्रन्थ लिखा है। केशव दैवज्ञ ने समानार्थक शब्दों के विषय में 'कल्पद्रु' नामक कोश लिखा है। वह १७ वीं शताब्दी ई० से प्रारम्भ हुआ था।

---

७. संस्कृत साहित्य का इतिहास मूल लेखक वरदाचार्य एम० ए०।
अनुवादक-कपिलदेव द्विवेदी (पृ० २८७)।

८. वैदिक कोषः—(भूमिका) भगवद्दत्त (पृ० ५८)।

इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे कोश ग्रन्थ 'एकाक्षर कोश', जिसमें एक अक्षर वाले शब्दों का वर्णन है। द्विरूप कोश, जिसमें दो वर्ण वाले शब्दों का वर्णन है, इत्यादि भी संस्कृत के शब्द कोष है।[९]

प्राकृत शब्द कोष

धनपाल (१००० ई०) ने 'पाइअलच्छि' ग्रन्थ लिखा है जो कि प्राकृत शब्दों का नाम कोष है। हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) लिखित 'देशीनाममाला' प्राकृत शब्दों का कोश है। हेमचन्द्र ने देशी नाममाला में शब्दों को अकारादि क्रम से दिया है जिससे कोई भ्रम उत्पन्न नहीं होता। एक शब्द को एक स्थान पर देशी और फिर उसी को दूसरे स्थान पर संस्कृत से सम्बन्धित दिखाया है। उदाहरण के लिये 'डोला,' 'हलुअ''स्थविर,' 'प्राकृत-व्याकरण' में तो संस्कृत और 'देशी-नाममाला' में देशी माने गये हैं।

अभिमान चिह्न ने अपना 'देशी कोश' सूत्र रूप में लिखा, गोपाल ने देशी कोश श्लोक के रूप में रचा। देवराज ने एक छन्द सम्बन्धी कोश बनाया जिसमें प्राकृत के देशी शब्दों का अर्थ प्राकृत भाषा में ही व्यक्त किया है। द्रोण ने भी अपने देशी कोश में प्राकृत भाषा में ही देशी शब्दों के अर्थों को स्पष्ट किया है।

प्राकृत शब्द कोश का एक बृहत् रूप 'पाइअसद्दमहारणव' (प्राकृत शब्द महार्णवः) के नाम से सेठ हरगोविन्द दास द्वारा हिन्दी अर्थों तथा रूपात्मक विवेचन के साथ मिलता है। यह कोश प्राकृत शब्द समूह की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। आचार्य नरेन्द्र देव रचित पूर्व निर्देशित 'अभिधम्म कोश' भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण रचना है।[१०]

अपभ्रंश शब्द कोश

शब्द कोश के क्षेत्र में अपभ्रंश ने प्रायः प्राकृत की निधि का ही उपयोग किया है। शब्दों में ध्वनि परिवर्तन करके विशिष्ट रूप अपभ्रंश ने कम दिया है।[११]

महर्षि पातंजलि ने अपने महाभाष्य में लिखा है—

"भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयांसशब्दाः।
एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽप्रभ्रंशाः
तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य 'गावी', 'गोणी'
'गोता' गोपोतलिका' इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ॥"

"अर्थात् अपशब्द बहुत और शुद्ध शब्द थोड़े हैं क्योंकि एक एक शब्द के बहुत अपभ्रंश हैं। यहाँ पर अपभ्रंश शब्द अपशब्द के अर्थ में व्यवहृत है और अपशब्द का अर्थ

९. संस्कृत साहित्य-का इतिहास मूल लेखक—वी० वरदाचार्य एम ए०
अनुवादक-कपिलदेव द्विवेदी आचार्य (पृ० २८७)

१०. प्राकृत विमर्श—डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल पृ० ६६, ६७

११. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—नामवरसिंह।

भी संस्कृत व्याकरण से असिद्ध शब्द है। यह स्पष्ट है। उक्त उदाहरण में 'गावी' 'गोणी' इन दो शब्दों का प्रयोग प्राचीन जैन सूत्र ग्रन्थों में पाया जाता है।[१२] और चंड तथा हेमचन्द्र ने भी ये दो शब्द अपने अपने प्राकृत व्याकरणों में लक्षण द्वारा सिद्ध किये हैं।[१३]

पातंजलि प्रभृति संस्कृत वैयाकरणों के मत में संस्कृत भिन्न सभी प्राकृत भाषाएँ अपभ्रंश के अन्तर्गत हैं परन्तु प्राकृत वैयाकरणों के मत में अपभ्रंश भाषा प्राकृत का ही एक अवान्तर भेद है। काव्यालंकार की टीका में नामसिंधु ने लिखा है 'प्राकृतमेवापभ्रंशः' (२१२) अर्थात् अपभ्रंश भी शौरसेनी, मागधी आदि की तरह एक प्रकार का प्राकृत ही है।[१४] अतः प्राकृत के 'कोश' ही अपभ्रंश भाषा की कठिनाइयों का समाधान करने में सहायक होते थे।

हिन्दी में नाममाला कोष

'नामों' के अनेक कोष हिन्दी भाषा में रचे गए। संस्कृत में 'नाम कोश' रचने की जो परम्परा थी सीधे उसी के अनुकरण पर हिन्दी के प्राचीन विद्वानों ने विभिन्न 'नामों' को छन्दबद्ध करके नाम-माला ग्रन्थ या नामकोष निर्मित किये। इन कोशों में नामों को अकारादि क्रम से नहीं रखा गया है। इनकी एक सामान्य सूची यहाँ दी जाती है—

१. खालिकबारी अमीर खुसरो (संवत् १३१०-१३८२ ई०)[१५]
१. नाममाला—बनारसीदास (सं० १६४३-१६७० ई०)[१६]
३. अमरकोष भाषा—हरिजू मिश्र (सं० १७९१ ई०)[१७]
४. अनेकार्थ भाषा—नंददास (सं० १८१२ ई०)[१८]
५. अनेकार्थ ध्वनिमंजरी—नंददास (सं० १८३५ ई०)[१९]
६. मान मंजरी 'नाम माला'—नंददास(सं० १८३५ ई०)[२०]
७. नाममाला कोश—चन्दन (सं० १८२०-१८५० ई०)[२१]
८. शब्द रत्नावलि—प्रयागदास (सं० १८६९ ई०)[२२]
९. अमरकोष भाषा—गोकुलनाथ (सं० १८७० ई०)[२३]
१०. नानार्थनव संग्रहावलि—मातादीन शुक्ल (सं० १८९९)[२४]
११. नाममाला—नंददास (अष्ट छाप वाले) हस्तलिखित पुस्तक का समय (सं० १९०४ ई०)[२५]
१२. दूरादूरार्थ दोहावलि—रतनहरि (सं० १९२१ ई०)[२६]

---

१२. णागरगीवाओ (विपाक श्रुत १, २—पत्र२६) गोणीण संगेल्लं (व्यवहार सूत्र ३०४) 'दवीरीणियाओ गीवाणो' 'गोणं वियालं' (आचारांग सूत्र २, ४, ५)।
१३. गोर्गावी (प्राकृत लक्षण २, १६) गोणादय (हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण)।
१४. पाइअ सद्द महण्णाव पं० हरगोविन्ददास सेठ पृष्ठ ४४ (२,१७४)।
१५. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—रामकुमार वर्मा (पृ० १२४-१२६)।
१६. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल (पृ० १५१)।

कुछ हस्तलिखित 'नाममालाएँ' अभी नये अनुसंधानों द्वारा प्राप्त हुई हैं जो अभी तक अप्रकाशित हैं—

१. अनेकार्थ नाममाला—विनय सागर रचित
२. आत्मबोध नाममाला—चेतन विजय (सं० १८४७)
३. मानमंजरी नाममाला—बद्रीदास (लेखन सं० १७२५)
४. कर्णाभरण—हरिचरणदास (सं०)
५. प्रकाश नाममाला—मियाँ नूरकृत[२७]

इधर 'परम्परा' नाम के शोध-पत्र नें राजस्थानी की प्राप्य सभी 'नाममालाएँ' अपने एक अंक में प्रकाशित कर दी हैं।

एक प्रश्न सहज ही यह उठता है कि इस प्रकार नाममाला कोश प्रस्तुत करने की यह परिपाटी हिन्दी में मध्ययुग में क्यों खड़ी हुई। ये नाममालाएँ यास्क के निघंटु की भांति वेद के शब्दों की व्याख्या करने के अभिप्राय से अथवा अपने युग के किन्हीं ग्रन्थों के प्रकृत अर्थों को समझने-समझाने के लिए नहीं तय्यार की गयीं, क्योंकि इनमें शब्दों को समझाने का कोई प्रयत्न नहीं। ये हिन्दी के मौलिक कोष उस रूप में नहीं जिस रूप में कि अमरकोश संस्कृत भाषा का मौलिक कोश है। ये तो यथार्थ में संस्कृत के कोशों के रूपान्तर हैं, जो हिन्दी पढ़े-लिखों के लिए सुलभ करने के लिए लिखे गये हैं। क्या, तो, इन कोशों का निर्माण अपनी नाममालाओं के आधार पर संस्कृत के शब्द-भंडार को सुलभ बनाकर संस्कृत के ज्ञान संवर्द्धन के लिए हुआ। निश्चय ही इसका यह उद्देश्य नहीं। इस उद्योग का उद्देश्य यही विदित होता है कि हिन्दी के कवियों की शब्द-सम्पत्ति को बढ़ाया जाय। हिन्दी कवियों को अपने काव्य में विविध रूपेण एक शब्द के विविध पर्यायों के प्रयोगों की आवश्यकता थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ये नाममालाएँ लिखी जाने लगीं। हिन्दी में अभी तक नन्ददास से पूर्व की नाममाला प्रकाशित नहीं मिलती।

---

१७. Extracted form the Second Triennial Report on the search for Hindi (page 172)—by Shyam Bihari Misra (Manuscript 1909, 1910. 1911)

१८. नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट—(१६२३, २४, २५((नं० २६४७)।

१६. नंददास ग्रन्थावलि—(पृ० ४७)।

२०. नंददास ग्रन्थावलि—(पृ० ४७)।

२१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल (पृ० २५७)।

२२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—राककुमार वर्मा (पृ० २७)।

२३. नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट—१६२६, २४, २५ नं० २६४।

२४. Extracted from the Second Triennial Report on the search for Hindi Manuscript (1901, 1910, 1911).

२५. नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट—(१६२३, २४, २५) V. II।

२६. नागरी प्रचरिणी सभा की खोज रिपोर्ट—(१६१७, १८, १६)।

२७. यह हिन्दी-विद्यापीठ की 'ग्रन्थवीथिका' में प्रकाशित हो चुका है।

बनारसीदास जी भी एक प्रकार से नन्ददास के समकालीन ही थे। उनकी प्रवृत्ति वही थी जो नन्ददास की थी।

मध्यकालीन नाममाला कोष

सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक की नाममालाओं में हमने पहले नंददास की प्रसिद्ध नाममालाओं को ही लिया है।

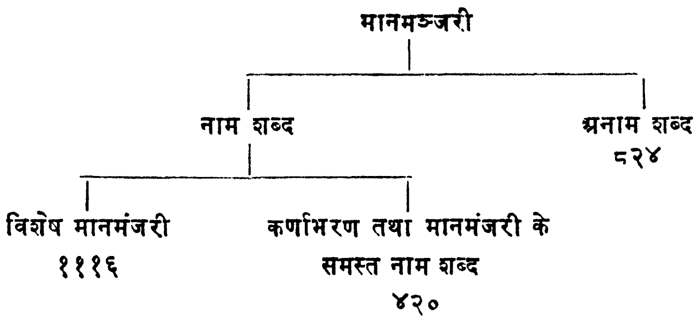
मानमंजरी—यह पुस्तक नंददास जी ने लिखी है। इसका लिपिकाल १८३३ विक्रमी है।

दो सत पैंसठ ऊपर दोहा श्री नंददास।
रामहरी बाकी किये कोस धनंजय तास।।

संतन की बानी बड़ी रामहरी मतिमंद।
अपने समुझन को लिखे बन ते बिच दिये संद।।[२८]

नंददास ने अपनी नाममाला 'अमर कोश' के आधार पर दी। पर उक्त उद्धरण से सिद्ध होता है कि इस समय प्राप्त 'नाममाला' में रामहरी नामक किसी व्यक्ति ने और भी नाम बढ़ाये। ये नाम उसने किसी 'धनंजय कोष'[२९] से लिये। २६५ दोहों तक नंददास ने रचना की, शेष की 'रामहरी' ने। अतः यह नाममाला संस्कृत के दो कोषों के सार को हमारे सामने प्रस्तुत करती है। इससे इस नाममाला का महत्व और भी बढ़ जाता है।

इस हस्तलिखित प्रति में पाँच मञ्जरियाँ एक साथ दी गई हैं और प्रायः एक ही समय की लिखी हुई हैं। इस नाममाला के शब्दों को भी हमने अकारादि क्रम से रख कर उनका वर्गीकरण किया है।



---

२८. नंददास ग्रन्थावलि।

२९. ऊपर जिन कोशों का उल्लेख हुआ है, उनमें 'धनंजकोष' का नाम नहीं आया। इस कोष के संबंध में कोई विशेष परिचय कहीं नहीं प्राप्त हुआ। पर यह निश्चय है कि राम हरी के समय में यह कोश महत्वपूर्ण रहा होगा।

कर्णाभरणः —दूसरा ग्रन्थ हमने 'कर्णाभरण' लिया है। यह हरिचरण दास द्वारा लिखा गया है। हरिचरण दास के सम्बन्ध में 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' नामक पुस्तक में विवरण मिलता है जो इस प्रकार है—

'हरिचरण दास—चैनपुर, परगना गोयल, जिला सारन (बिहार) निवासी, जन्म का संवत् १७६६ ई०, जाति के सरयूपारी ब्राह्मण, रामधन के पुत्र और वासुदेव के पौत्र, संवत् १८३४ ई० के लगभग वर्तमान रहे। पहले नवापुर के राजा विश्वसेन तत्पश्चात् कृष्ण गढ़ के राजकुमार विरद सिंह के आश्रित रहे।'[३०]

हरिचरण दास जी के जीवन चरित्र के विषय में कतिपय पंक्तियां इनके रचित हस्तलिखित ग्रन्थ 'कर्णाभरण' में मिलती हैं जिनसे कि इनके जीवन पर पर्य्याप्त प्रकाश पड़ता है—

"राजत सुबे बिहार में है सारनि सरकार।
सालग्रामी सुरसरित सरजू सोभ अपार।।
सालग्रामी सुरसरित सिली गंग सों आय।
अंतराल में देस सो हरि कवि को सरसाय।।
परगन्ना गोआ तहाँ गाँव चैनपुर नाम।
गंगा सों उत्तर तरफ तँह हरि कवि को धाम।।
सरजूपारी द्विज सरस, वासुदेव श्री मान।
ताको सुत श्री रामधन, ताको सुत हरि जान।।
नवापुर में ग्राम है, चढ़्या अभिजन तास।
विस्वसेन कुल भूप वर, करत राज रवि भास।।
मारवाड़ में कृष्ण गढ़ तिह किय हरि कवि वास।
कोस जु कर्नभिरन यह कीन्हों है जु प्रकास।।"[३१]

हरिचरण दास जी के द्वारा विरचित दो ग्रन्थ और भी हैं १—कविप्रिया २—बिहारी सतसई की टीका।

बिहारी सतसई[३२] की टीका—नामक हरिचरण दास जी की पुस्तक के विषय में 'राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' में विवरण मिलता है—

बिहारी सतसई[३३] की टीका—(हरिप्रकाश) टीकाकार हरिचरण दास, आकार १२" × ८५" । इसमें ११२ पत्र हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर २६ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति में

३०. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण; (पहला भाग) सम्पादक—श्यामसुन्दर दास (पृष्ट १६३)
३१. कर्णाभरण (हस्तलिखित ग्रन्थ) (पृष्ठ ५३ पीठ)
३२. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज—तृतीय भाग सं०—उदयसिंह भटनागर। (पृ० १३५)

२७ अक्षर हैं। अक्षर साफ़ और सुन्दर हैं। पत्रों को दीमक काट लेने पर भी अक्षर बच गये हैं। इसका रचना काल १८३४ है और लिपिकाल सं० १८६५, कृष्णा ११, भौमवार रचना काल सं० १८५० है।

आदि भाग—सवैया—

तुलसी माल तमाल सो स्याम अनंग तें सुन्दर रूप मोहाहीं।
श्रुति कुंडल की मनि की झलकैं, मुख मंडल पैं बरनी नहीं जाहीं।।

अन्तिम भाग—दोहा—

सालग्रामी सरजू जहाँ मिली गंग सों आय।
अन्तराल में देस सो, हरि कवि को सरसाय।।
सेवी जुगल किसोर के प्राननाथ जी नाँव।
सप्त सदी तिनसों पढ़ी, बसि सिंगार बट ठाँव।।
जमुनांतर शृंगार वट, तुलसी विपिन सुदेस।
सेवत संत महंत जहि, देवत हरत कलेस।।
पुरोहित श्री नंद के, मुनि सांडिल्य महान।
हम हैं ताके गोत में, मोहन मों जजमान।।
मोहन महा उदार तजि, और जाचिए काहि।
संपति सुदामा को दई, इन्द्र लही नहिं जाहि।।
गहि अकस मनु तात तें, विधि को बंस लखाय।
राधा नाम कहें सुने, अननं कान बढ़ाय।।
संवत् अठारह सो विते, तापर तीस अरू चार।
जन्माठे पूरो कियो, कृष्ण चरण मन धार।।"

'कर्णाभरण' का रचना काल संदिग्ध है। बिहारी सतसई की टीका का रचना काल संवत् १८३४ ई० मिलता है। हरिचरणदास जी का जन्म समय संवत् १७६६ ई० है किन्तु कर्णाभरण में जो दोहा इस ग्रन्थ के रचना काल के सम्बन्ध में है, उससे स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि कब इन्होंने यह ग्रन्थ रचा था। पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ पर एक दोहा है—

संवत् बाइस सौ वित्तै तापर है अड़तीस।
कीनो कर्णाभरण हरि, हो राजी जगदीस।।

'बाइस सौ' शब्द भूल से लिखा हुआ प्रतीत होता है। वास्तव में यहां 'ठारह सौ' ही होना चाहिये जिससे कर्णाभरण का रचनाकाल संवत् १८३८ ई० ज्ञात होगा। अनुमानतः उन्होंने अपनी यह पुस्तक बिहारी सतसई की टीका के पश्चात् लिखी होगी।

कर्णाभरण पुस्तक में नाम शब्दों के श्लोक १२०० हैं तथा टीका के श्लोक ७०० हैं। तीन कांड हैं। १०९ पृष्ठ। ऐसा ज्ञात होता है कि यह पुस्तक केसरी लग्न में तथा प्रभात काल में समाप्त की गयी है। इस सम्बन्ध में एक दोहा पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ पर है—

केसरी लग्न प्रभात में, भानुसुता प्रकटी रति कोटि निकाई।
ताहि ए द्यौस में पूरो कियो हरि ग्रन्थ कवीस को मंगलदाई।।

इस ग्रन्थ के शब्दों का विश्लेषण करके, उन्हें अकारादि क्रम से संयोजित किया गया है। ऐसा करने पर जो निष्कर्ष निकला है तथा किस प्रकार के शब्दों की संख्या कितनी है यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट निर्देशित हो रहा है।

कर्णाभरण
सम्पूर्ण शब्द संख्या
१७,७२७

नाम शब्द	कर्णाभरण तथा मानमंजरी के समस्त नाम शब्द ४२०	अनाम शब्द
विशेषकर्णाभरण के मान शब्द ४१६३		१३,५६४

सारांश यह है कि ४१६३ नाम शब्द कर्णाभरण में ऐसे हैं जो नन्ददास की मान-मंजरी में नहीं हैं।

मानमंजरी में १११६ नाम शब्द ऐसे हैं जो कर्णाभरण में नहीं हैं। तथा ४२० ऐसे शब्द हैं जो कि मानमञ्जरी एवं कर्णाभरण दोनों में ही समान रूप से मिलते हैं। सम्पूर्ण नाम शब्दों की संख्या ५६९९ हो गयी है। जिनका प्रतिशत इस प्रकार होता है:—

कर्णाभरण में ७३% प्रतिशत नाम शब्द
मानमञ्जरी में २०% ,, ,,
कर्णाभरण तथा
मानमंजरी में ७% ,, ,,

नाममाला कोष और जायसी, तुलसीदास तथा बिहारी की नाम-सम्पत्ति

जायसी की 'पदुमावत'—अब हम तत्कालीन साहित्यकारों की नाम-सम्पत्ति पर एक दृष्टि डालते हैं। पहले जायसी को ही लेते हैं।

जायसी का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पदमावत' है। इस ग्रन्थ के निर्माण काल के विषय में कवि ने एक पंक्ति लिखी है—

"सन् नवसै सत्ताइस अहा, कथा अरंभ बैन कवि कहा ।"

इस पंक्ति से यह ज्ञात होता है कि पदमावत की कथा का प्रारम्भ ९२७ हिजरी में कवि ने किया था जो कि सन् १५२० ई० के लगभग का समय था ।

परन्तु रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस विषय पर विवेचन किया है तथा उसे सुलझाने का भी पूर्ण प्रयास किया है । वे लिखते हैं—

'ग्रन्थारम्भ में कवि ने मसनवी की रूढ़ि के अनुमार 'शाहेवक्त' शेरशाह की प्रशंसा की है—

शेरशाह दिल्ली सुलतानू, चारऊ खंड तपै जस भानू ।
ओहि छाज राज ओ पाटू, सबै राजै भुइँ धरा ललाटू ।।

शेरशाह के शासन का प्रारम्भ ९४७ हिजरी अर्थात् सन् १५४० ई० में हुआ था । इस दशा में यही ज्ञात होता है कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य तो सन् १५२० ई० में ही बनाये थे, पर ग्रन्थ को १९ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया था ।"

जायसी को लेने पर और तत्कालीन नाममाला कोषों के शब्द भंडार से उनके शब्द वैभव की जाँच करने पर यह विदित होता है कि जायसी ने बहुत से शब्द नाम मालाओं से ही लिये हैं ये शब्द नाममाला कोष में भी मिल जाते हैं; किन्तु बहुत से नवीन शब्द भी हैं तथा परिवर्तित भी । जायसी की शब्द-सम्पत्ति कास्वरूप निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो रहा है ।

जायसी नाम सम्पत्ति
शब्द संख्या
(३५८२)

कोष में संप्राप्त शब्द	नवीन शब्द	परिवर्तित शब्द
११४३	१६४२	७९७

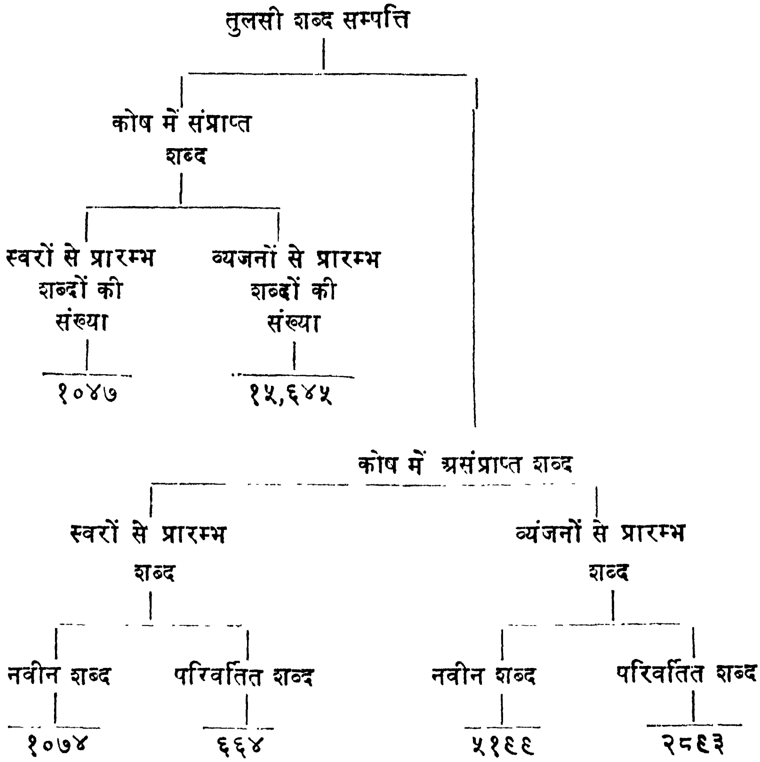
'तुलसी का रामचरित-मानस'

अब हम तुलसीदास जी को लेते हैं । तुलसीदास जी का महत्त्वपूर्ण तथा सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ रामचरित मानस है, जिसकी रचना के विषय में रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं :—
"संवत् १६३१ में अयोध्या में जाकर इन्होंने रामचरित मानस का आरम्भ किया और उसे दो वर्ष सात महीने में समाप्त किया ।"[३२]

३२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ १२८ ।

तुलसी दास जी की रामायण के अधिकांश शब्द नाममाला कोष में संप्राप्त हैं; किन्तु कुछ नवीन तथा परिवर्तित शब्द भी रामचरित मानस में हैं जो कि नाममाला कोष में नहीं मिलते ।

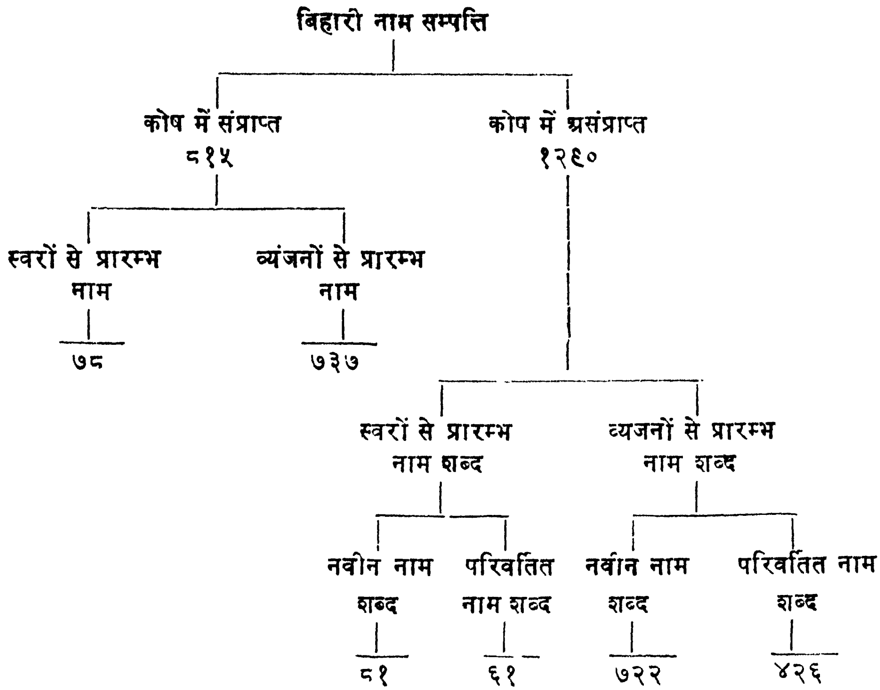
तुलसी के शब्द भंडार का कोष में संप्राप्त तथा असंप्राप्त होने की दृष्टि से जो वर्गीकरण किया जाता है उसका स्वरूप निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है ।



बिहारी की 'सतसई'

बिहारी का सर्वोत्तम तथा अकेला ग्रन्थ 'बिहारी सतसई' है, जो कि हिन्दी साहित्य का उज्ज्वल नक्षत्र है । सतसई का निर्माण काल संवत् १६९२ ई० है । इस समय बिहारी जी अपनी वार्षिक वृत्ति लेने के लिये जयपुर गये थे । जिस समय महाराज जयसिंह अपनी नवपरिणीता रानी केसौन्दर्य में फंसे हुए थे, उसी समय बिहारी ने अपना 'नहीं पराग नहीं मधुर मधु' वाला दोहा रचा था ।[३३] बिहारी की सतसई के नाम शब्दों को लेने पर तथा नाममाला कोष के नाम शब्दों से उनका तुलनात्मक अध्ययन करने से विदित होता है कि उनकी नाम-सम्पत्ति की स्थिति यह है—

३३. बिहारी और उनका साहित्य—हरवंश लाल शर्मा एम० ए० डी० लिट०



इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ८१५ नाम शब्दों का प्रयोग बिहारी ने किया जो कि इन्हीं नाम मालाओं से लिये गये हैं अथवा नाममाला कोष में भी मिलते हैं।

शब्द परिवर्तन

जायसी, तुलसी तथा बिहारी तीनों ही की रचनाओं में कुछ परिवर्तित शब्द हैं। नाममाला कोष में ये शब्द इन रूपों में नहीं मिलते हैं। नाम शब्द नाममालाओं में विकृत रूप में नहीं है, मूल रूप में हैं। इन कवियों के परिवर्तित शब्दों के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(१) नाम माला कोष में अनाम:—बहुत से शब्द ऐसे इन कवियों ने प्रयुक्त किये हैं जो नाममाला के ग्रन्थों में अनाम हैं, अर्थात अतिरिक्त शब्दों के रूप में अथवा टीका टिप्पणी के रूप में ही आये हैं।

(२) अर्थ भेद—नाम माला कोष में जिस अर्थ में कोई अमुक शब्द आया है वह उसी अर्थ में इन कवियों द्वारा प्रयुक्त नहीं हुआ, वरन् दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

(३) रूप भेद—अनेक शब्दों का रूप भेद हो गया है। 'आकाश' के स्थान पर 'आकास', 'अक्षर' की जगह 'आखर' 'उपाय' के लिए 'उपाउ' शब्दों का प्रयोग इस प्रकार के उदाहरण हैं।

(४) मात्रा-भेद—छोटी 'इ' की जगह बड़ी 'ई' की मात्रा, 'उ' की जगह बड़े 'ऊ' की मात्रा इत्यादि का प्रयोग भी इन कवियों ने किया है।

(५) मात्रा प्रयोग—जहाँ मात्रा का प्रयोग नहीं होना चाहिये, वहाँ भी मात्रा का प्रयोग है जैसे—'कपोल' का 'कपोला' कर दिया गया।

(६) मात्रा लोप—जहाँ मात्रा का प्रयोग होना चाहिये, वहाँ नहीं किया गया जैसे—'ठाकुर' की जगह 'ठकुर' का प्रयोग।

(७) संस्कृत शब्द—कुछ शब्द ज्यों के त्यों संस्कृत के ही इनकी रचनाओं में प्रयुक्त हैं जैसे—'देवम्' 'तनुम्', 'अर्णवे' इत्यादि।

(८) विकृत शब्द—बहुत से शब्दों के रूप विकृत कर दिये गये हैं। तुलसीदास जी की रामायण के ही कुछ शब्द उदाहरण स्वरूप देखिये—

अनुरागु—अनुराग, प्रेम (का० १ चौ० २०७)

अपलोकु—अपयश (कां० ६ चौ० ८३ दो० ७)

अभिनन्दनु—सेवा तथा गुणों की प्रशंसा (कां० २ चौ० १७७ दो० ४)

बररै—बर्र या भिड़ (कां० १ चौ० ३१२)

भ्रातन्ह—भाइयों को (कां० ७ चौ० ४८ दो० २) इत्यादि।

बिहारी जी ने भी शब्दों में कोमलता, मधुरता, सरसता तथा सजीवता लाने के लिये तथा छंद और तुक तथा अनुप्रास की छटा दिखाने के लिये शब्दों के रूप विकृत कर दिये हैं; उदाहरण स्वरूप देखिये—

जोवनु—यौवन (दो० न० ७०)
नटु—नट नागर (दो० न० १६२)
पसेऊ—पसीना (दो० न० ५०८)
हारू—हार (दो० न० २५८)
सागरु—सागर (दो० न० ४११) इत्यादि।

इस प्रकार विकारग्रस्त शब्दों का प्रयोग भी इन कवियों ने स्थान स्थान पर किया है।

जायसी, तुलसी और बिहारी की नाम सम्पत्ति का तुलनात्मक अध्ययन

इन तीनों कवियों की नाम सम्पत्ति का तुलनात्मक अध्ययन करने से, तथा कितने शब्द किस कवि ने ऐसे प्रयुक्त किये हैं जो कि नाममाला कोष में मिलते हैं, यह अनुसंधान करने पर जो निष्कर्ष निकलता है वह इस प्रकार है—

(१) जायसी ने अपनी 'पदुमावत' में ६१६ नाम शब्द ऐसे प्रयुक्त किये हैं जो कि तुलसी के रामचरित मानस में नहीं हैं।

जायसी ने ८५६ नाम शब्द प्रयुक्त किये हैं जो कि बिहारी की सतसई में नहीं है।

(२) तुलसीदास जी ने १४,३४० नाम शब्दों का प्रयोग किया है जो नाम माला कोष में है, किन्तु जायसी ने प्रयुक्त नहीं किये।

तुलसीदास जी ने १५,७६० नाम शब्द नाममाला कोष के प्रयुक्त किये हैं, जो कि बिहारी में नहीं हैं।

(३) बिहारी ने ६५१ नाम शब्द प्रयुक्त किये जो तुलसी में नहीं हैं; अर्थात तुलसी के रामचरित मानस में प्रयुक्त नहीं हुए हैं।

बिहारी ने ६६९ नाम शब्द नाममाला कोष के ऐसे प्रयुक्त किये हैं जो कि जायसी की पदुमावति में नहीं हैं।

नाममाला कोष के ५० नाम शब्द ऐसे हैं जो कि जायसी, तुलसी तथा बिहारी तीनों ही कवियों के द्वारा सामान्य रूप से प्रयुक्त किये गये हैं।

जायसी के द्वारा सामान्य शब्दों के अतिरिक्त, नाममाला कोष के प्रयुक्त शब्द ११९३ हैं।

बिहारी के द्वारा सामान्य नाम शब्दों के अतिरिक्त नाममाला कोष के प्रयुक्त शब्द ७६५ हैं।

तुलसी के द्वारा, सामान्य नाम शब्दों के अतिरिक्त, नाम माला कोष के प्रयुक्त शब्द १६,६५३ हैं।

अर्थात् नाम माला कोष के १८,६११ नाम शब्दों का प्रयोग तीनों ही कवियों ने किया है और ५० शब्द समान रूप से तीनों द्वारा अपने-अपने काव्य ग्रन्थों, पदुमावत, रामचरितमानस तथा सतसई में प्रयुक्त किये गये हैं।

सत्येन्द्र

जगदेव की कथा : एक अध्ययन

आमुख

इस अध्ययन में जिन विविध लोक-कथाओं के रूपों का उपयोग किया गया है, उन्हें कहीं-कहीं सुविधा के लिए कुछ निश्चित संकेताक्षरों के द्वारा बताया गया है। यहाँ उन रूपों के ये संकेत दिये जा रहे हैं।

१. टेम्पल महोदय द्वारा लिपिबद्ध पंजाबी रूप	अ
२. फार्ब्स की रासमाला का गुजराती रूप	आ
३. नाहटा जी से प्राप्त राजस्थानी बात का रूप	इ
४. ब्रज का पँवारा	ई
५. नाहटा जी से प्राप्त राजस्थानी खयाल का रूप	उ
६. गोविंद चातक का गढ़वाली रूप	ऊ
७. गंगाचरण त्रिपाठी का अवधी रूप	ए
८. हिमालय लोक कथा का रूप	ऐ
९. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का बुंदेली रूप	ओ

जिन महानुभावों की सामग्री का इसमें उपयोग किया गया है, उनका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

जगदेव पमार

ब्रज के लोक-साहित्य की शोध में हमें पहले जगदेव के पमारे का एक छोटा-सा अंश मिला था। उसी समय यह विदित हुआ था कि जगदेव पंवार का यह पंवारा 'देवी के जागरण' में गाया जाता है। सामान्यतः यह लगता है कि 'जगदेव का पंवारा' एक सामान्य वीरगाथा-गीत (Legend) ही है; पर ऐसा है नहीं। यह एक धार्मिक गाथागीत है। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि इसे 'देवी के जागरण' के गीतों में महत्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है। जगदेव, देवी का प्रबल भक्त माना जाता है, ऐसा भी विदित हुआ है कि कुछ लोगों में स्वयं 'जगदेव' ही देवता की भांति पूजा जाता है।[1] हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि जगदेव देवी के परिकार का ही भक्त या देवता है।

किसी ऐतिहासिक काल में जगदेव की बहुत मान्यता रही होगी। और, संभवतः शाक्त-धर्म की प्रबलता के युग में 'जगदेव' ने बहुत लोकप्रियता भी प्राप्त की होगी। साहित्यिक संदर्भों से इस बात की पुष्टि होती है। साहित्य के इन संदर्भों से जगदेव के कई गुणों पर प्रकाश पड़ता है।

'पुरातन-प्रबन्ध संग्रह' के 'जगदेव प्रबन्ध' से जगदेव की दानशीलता का पता चलता है। वह लक्ष-दानी प्रतीत होता है।[2] मेरुतुंग के 'प्रबंध चिंतामणि' में भी विस्तार से जगदेव की दानवीरता का उल्लेख है।

अमरुशतक की रसिक संजीवनी मे उद्धृत नाचिराज के एक श्लोक से जगदेव के सौन्दर्य तथा अडिगमन की पुष्टि होती है।

जायसी की पद्मावत में आये हुए उल्लेख से जगदेव अत्यन्त वीर सिद्ध होता है[3] तथा मौली कवि ने 'उदवंत प्रकाश' नामक ग्रंथ में जगदेव के सिर देने की बात का उल्लेख किया है।[4]

---

१. यह सूचना मुझे एक रिसर्च असिस्टेंट के द्वारा मिली, जो ब्रज के देवी-देवताओं पर अनुसंधान कर रहे हैं।

२. पुरातन-प्रबन्ध संग्रह—पृ० ८५।

३. जायसी कृत पद्मावत ६११।३ तथा ६३४।४ (डा० वासुदेव शरण द्वारा सम्पादित संस्करण)

४. "भयो बहुर तेहि बंस में, राजा उदैय दीत।
जो अपने भुज जोर सों, भू में भयौ अजीत।
भयो बहुरि जगदेव जो, बहु साहस के खान
जो अपने कर काट सिर, दियो कंकालिहि आन।"
उदवन्त प्रकाश—मौली कवि (१८०३=१७४६ हस्त०) देखिए—द जर्नल आफ द बिहार रिसर्च सोसाइटी मार्च, १९५५, प्रो० हसन अस्करी का लेख, 'द उज्जैनिक एन्सेस्टर्स······पृ० १०७।

शशिमाला कथा नामक प्रेमाख्यान से वचन-पालन के लिए जगदेव की प्रसिद्धि सिद्ध होती है।[५]

लोक-साहित्य के अनुसंधान में जगदेव की लोक-प्रचलित कहानी हिमालय-प्रदेश में[६] गुजरात में, अवध में, ब्रज में, राजपूताने में, बुन्देलखंड में, पंजाब में तो निश्चित रूप से मिलती है। इतने ही से 'जगदेव' की एक विस्तृत भू-भाग में लोक-प्रियता का अनुमान सहज ही लग जाता है।

अतः विदित यह होता है कि वैष्णव धर्म के प्रबल होने पर शाक्त-धर्म की वार्त्ताएँ उतनी सामान्य नहीं रहीं, वे सिमिटने लगीं, और सामान्य लोक-कहानी के रूप में कहीं-कहीं प्रचलित रहीं और विशेषता के साथ केवल देवी-सम्बन्धी अनुष्ठानों में सुरक्षित रहीं।

निश्चय ही जगदेव के वृत्त ने दो रूप धारण कर लिए: एक सामान्य लोक-कथा का। लोक-कथा के प्रबल तत्वों के कारण 'जगदेव' का विशिष्ट व्यक्तित्व, सामान्य लोक-कथा में समाविष्ट हो गया।

दूसरा अनुष्ठान विषयक। यह रूप देवी-पूजा और जागरण मे गीत के रूप में स्थित रहा। यह 'पँमारा' कहलाता है। सामान्य लोक-कथा अथवा कहानी की अपेक्षा यह रूप कहीं अधिक विस्तृत और विशद है। यह रूप देवी के 'भगतों' में ही प्रचलित मिलता है, इसके साथ विशेष धार्मिक भाव संलग्न है।

जगदेव का समस्त वृत्त आज एक अध्ययन की अपेक्षा रखता है। अतः यहाँ पहले जगदेव का समस्त वृत्त संक्षेप में तुलनापूर्वक प्रस्तुत किया जाता है। उसके अनन्तर ही उसके अध्ययन में प्रवृत हुआ जा सकेगा।

[अ]० [टेम्पल महोदय वाला पाठ][७] [आ][८] [इ][९] [ई][१०]

(१) धारानगरी के राजा उदादीत

---

५. शशिमाला कथा में यह उल्लेख यों है :
डूबे द्रोण बचन की तालो, जगदेउ बोलि छला कंकाली।

६. देखिये गोविन्द चातक का शोध-प्रबन्ध 'गढ़वाली लोक-साहित्य' हिमालय प्रदेश के लिए; फार्वस की रासमाला गुजरात के लिए, गंगाचरण त्रिपाठी का शोध-प्रबन्ध (प्रयाग वि० वि० 'ब्रज, अवधी तथा भोजपुरी का लोक साहित्य' अवधी के लिए, इसी लेख के लेखक का ग्रन्थ 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन' ब्रज के लिए, डा० बासुदेव शरण लिखित 'पद्मावत' का परिशिष्ट बुन्देलखंड के लिए, टेम्पल की 'लीजेण्ड्स आफ द पंजाब' पंजाब के लिए। राजस्थान में इसकी लोकप्रियता इसी बात से सिद्ध है कि 'जगदेव' पर लिखा साहित्य अधिक संख्या में राजस्थान में ही मिलता है। देखिए अगरचन्द नाहटा का लेख।

७. टेम्पल महोदय ने यह कहानी मौंटगूमरी जिले के एक भाट (Bard) से सुनी थी।

८. फार्बस की रासमाला।

९. जगदेव पंवार की बात, अगरचन्द नाहटा से प्राप्त।

१०. ब्रज का गीत।

वृत्त १. धारा नगरी के राजा उदादीत के कोई लड़का नहीं था।

२. जब वे शिकार के लिये जंगल गये तो उन्हें एक फकीर दिखायी पड़ा।

३. राजा ने स्वयं उस फकीर का घोड़े से उतर कर बहुत आदर किया और अपने साथियों से भी आदर करने के लिए कहा।

४. फकीर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे दो सेव दिए कि उन्हें खाकर उसकी रानियों के पुत्र होंगे।

५. राजा ने वे फल रानियों को खिला दिये। उनके गर्भ रहा।

६. इसके पांच महिने बाद राजा को दिल्ली में शाहंशाह सलीम ने नजरबंद कर लिया, क्योंकि राजा कर नहीं दे सका था।

७. राजा जब नजरबंद था, तब पहले जगदेव का जन्म हुआ। इसकी बधाई लेकर एक भाट राजा के पास भेजा गया।

८. चार दिन बाद रनधौर पैदा हुआ, और इसकी बधाई लेकर एक ब्राह्मण राजा के पास भेजा गया।

९. राजा के पास बधाई लेकर ब्राह्मण पहले पहुंचा और रंधौर के जन्म का संवाद दिया; भाट पीछे जगदेव के जन्म का संवाद लेकर पहुँचा।

१०. शाहंशाह ने पहली सूचना के अनुसार रंधौर को बड़ा लड़का और वारिस पहले ही लिख लिया।

(इ)

१. दो रानियां उनके गर्भ रहा।

(इ)

२. राज उद० सो रहे थे तब जगदेव का जन्म हुआ, पहले उसकी बधाई वाला पहुंचा

श्रौर राजा को सोते देख सिरहाने खड़ा हुश्रा। फिर दूसरी रानी का लड़का पैदा हुश्रा, उसका बधाईदार पांयते खड़ा हुश्रा। राजा की श्राँख खुली पहली बधाई पांयते वाले छोटे पुत्र की मिली उसे टीकैत माना। सिरहाने वालेकी बधाई बाद में, उसे रावत रो टीको।

(ई)

१.

२. राजा के दो लड़के। बड़ा रणधीर छोटा जगदेव।

३. जगदेव श्रपनी मां के साथ किसी गांव जैसी जगह में रहता।

४. रणधीर ने देवी का यज्ञ रचा, जगदेव को भी न्यौता।

११. भाट के पहुंचने पर जगदेव के बड़े होने की सचाई विदित होने पर भी उसने शाही कागजों में हेर-फेर नहीं किया श्रौर रंधीर ही बडा माना गया।

१२. राजा की नजरबंदी से छुड़ाने के लिए भाट ने सलाह दी कि वे पुत्रों के पैदा होने की खुशी में दिल्ली की प्रजा को बहुत बढ़िया दावत दें। राजा ने ऐसा ही किया।

१३. राजा को दावत से प्रजा प्रसन्न हुई उससे बेगम श्रौर शाहंशाह भी खुश हुए, तथा उन्होंने राजा का कर माफ कर श्रादर सहित उसे घर जाने की श्राज्ञा दे दी।

१४. रणधीर राज्य का युवराज नियुक्त किया गया।

२. राजा के दो

५. जगदेव, उसकी मां तथा बहू गये ।

६. वे घर आकर खटपाटी लेकर पड़ीं, और जगदेव को भला बुरा कहा ।

७. जगदेव ने अपना पौरुष दिखाने के लिए किले पर रखी तोप पैर की ठोकर से उठाली ।

८. उसे लाकर लोहारों से सांग बनवाई ।

९. लोहारों ने देवी की कृपा से वह बनाई ।

१०. सांग लेकर जगदेव रण० के दरबार में गया और सांग दरबार में गाड़ दी । (अ) १५

११. तब रणधौर ने कई भारे तबे बनवाये, जगदेव ने उन्हें भी सांग

लड़के थे । बड़ा रणधौर छोटा जगदेव ।

३. राजा की अप्रिय रानी सोलंकी जगदेव के साथ एक गांव में गरीब की भांति ।

४. बारह वर्ष के जगदेव को राजा ने बुलाया और प्रसन्न होकर थैली दी । रणधौर की मां बाघेली ने थैली लौटाने की बात कही ।

५. राजा को उसके सम्राट मांडव गढ़पति ने बुला लिया ।

६. गौड़ देश के राजा गंभीर ने श्रीफल जगदेव को भेजा बाघेली ने लालच में वह रणधौर को चढ़वा लिया ।

७. रणधौर की बारात । जगदेव को भी

१५. इस अवसर पर सभी युवराज का सम्मान करने गये । जगदेव गया पर उसने सभा में अपना भाला गाड़ दिया और चला आया (ई०) १०

१६. लोगों ने यह देखा और ऊदादीत से कहा कि जगदेव बलवान है । उसे रणधौर से डाह है । वह किसी दिन उसे मार डालेगा ।

१७. उदादीत ने यह बात जगदेव से कही । जगदेव ने देश छोड़ना तय किया । (आ) १०

१८. वह एक घोड़े और नौकर के साथ देश छोड़ कर चल पड़ा । (आ) १० (इ) ३, (ई) १४

लेकर गौड़ को चली, रास्ते टोंकटोड़ा के वीरम ने अपनी पुत्री वीरमती का विवाह जगदेव से कर दिया। वीरमती को वहीं छोड़ जगदेव बारात में गया। और विवाह कर घर लौटे।

८. उद्यादीतं मांडव से लौटा और उसने जगदेव को तलवार तथा अन्य भेंट दी।

९. वाघेली के कहने से तलवार लौटवायी।

१०. जगदेव ने धार छोड़ने का निश्चय किया। (अ) १७ (आ)

से वेध दिया।

१२. हाथी घोड़े गये उन्हें भी मारा।

१३. तब किसी ने या रणधीर ने कहा कि ऐसा बल है तो पिता को कनबज की कैद से छुड़ा।

१४. जगदेव अपनी पत्नी को लेकर घर से चल पड़ा। (अ) १८ (इ) ३

(इ)

३. उद० की मृत्यु पर राज्य रणधवल को, जगदेव उठकर चल दिया।

[ई] १५

१९. चलते चलते जगदेव कनखार राजा के देश में पहुंचा और राजा के महल के पड़ौस की एक बुढ़िया के घर में ५ मोहरें देकर ठहरा।

२०. (अ) उस शहर में एक मढ़ा नाम का दानव रहता था जो ४-५ आदमियों को खा जाता था।

(आ) राजा ने उसके लिए एक मील लम्बा किला बनवा दिया जिसमें वह रहता।

(ई) और उसे १२ रोट तथा कुछ गोश्त और एक आदमी बारी बारी से राजा भेजता था।

२१. जिस दिन जगदेव बुढ़िया के ठहरा उसी दिन उसके लड़के की दानव के लिए जाने की वारी पड़ी।

२२. इस समाचार से बुढ़िया रोने-कलपने लगी।

२३. जगदेव ने कहा कि उसके लड़के की बजाय वह जायगा। वह रोये नहीं।

२४. जब राजा का सिपाही आया तो जगदेव चलने को तैयार हुआ। सिपाही ने कहा कि तुम ब्राह्मण पुत्र नहीं, पर जगदेव ने हठ की।

२५. तब सिपाही ४-५ गवाहों को साथ लेकर जगदेव के साथ दानव की मढ़ी को गया।

२६. मढ़ी का दरवाजा खोल कर जगदेव भीतर गया।

२७. सिपाही ने जाकर राजा को समाचार दिया (अ) राजा ने कहा किसी अजनबी को क्यों भेजा, ब्राह्मण के लड़के को ले जाओ। (आ) सिपाही ने कहा वह जान-बूझ कर गया है।

२८. इधर राजा जगदेव मढ़ी में जाकर राक्षस का इन्तजार करने लगा।

२९. राक्षस आया, जगदेव से लड़ाई हुई। जगदेव उसे पटक कर छाती पर सवार हो गया।

३०. राक्षस ने कहा कि

अ-मैं लंका निवासी हूं,

आ-मेरे मां-बाप कहते थे कि भगवान पुण्यात्मा से इसकी रक्षा करे।

इ-तुम मुझे छोड़ दो तो मैं तुम्हें जीतखड्ग जो मुझे सुलेमान से मिली थी वह और अभीसिंह वीर दूंगा।

३१. जगदेव ने उसकी एक न सुनी और उसका सिर धड़ से अलग कर दिया।

३२. सिर लेकर जब वह चला तो देखा राजा ने दरवाजे बन्द करा दिये हैं।

३३. जगदेव ने फाटक तोड़ दिया, राजा के १५ सिपाहियों को पछाड़ दिया और पांच तोपों को उलट दिया।

३४. और जाकर ब्राह्मणी के घर सो गया।

३५. जब राजा को समाचार मिला कि किसी बहादुर ने

दाने को मार डाला है तो उसने जगदेव को बुलाने के लिए मन्त्रियों को भेजा ।

३६. जगदेव दाने का सिर लेकर राजा के समक्ष पहुंचा ।

३७. राजा ने जगदेव को आधे आसन पर बैठाया ।

३८. राजा ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपनी लड़की फूलमदे का विवाह जगदेव से कर दिया और आधा राज भी दिया ।

३९. एक महिने बाद जगदेव फूलमदे को साथ लेकर वहां से चल पड़ा और एक बड़े शहर जयपुर में पहुंचा । (आ) ११ (इ) ४

४०. उस शहर में राजा जयसिंह ने घरों में तेल के दीपक जलाने का निषेध कर दिया था ।

४१. जगदेव को तेली ने तेल नहीं दिया तो उसको जगदेव ने मार डाला और उसका तेल घर ले आया ।

४२. राजा जयसिंह के पास समाचार पहुंचा पर उसने कुछ नहीं कहा ।

४३. राजा जयसिंह ने एक चन्द्रमा बनवाया था जो आकाश में रात को प्रकाशित होकर प्रजा को प्रकाश देता था ।

४४. राजा जगदेव ने वह चन्द्रमा देखा तो उसने भी चन्द्रमा बनाने वालों को ५०० स्वर्ण मुहर देकर एक चन्द्रमा बनवा लिया और रात में वह दूसरा चन्द्रमा उसने आकाश में टंगवा दिया ।

११. जगदेव घर से चल टौंकटोड़ा पहुँचा । वहाँ कुछ दिन रहा वीरमती को साथ लेकर सि० जयसिंह के यहाँ के लिए चला । (अ) ३९

१२. भयानक जंगल के छोटे मार्ग से चला । रास्ते में एक शेर और शेरनी को मारा ।

१३. पाटन पहुँचने पर जगदेव नौकरी की तलाश में गया ।

१४. वीर० को अकेली देख जामोती

(इ)

४. जगदेव गुजरात गया । (अ) ३९ (आ) ११

४५. राजा जयसिंह ने वह चन्द्रमा देखा तो उसने कहा कि इस जगदेव से अब शक्ति अजमानी होगी।

४६. दूसरे दिन जगदेव राजा जयसिंह की सभा में गया। जगदेव के जाते ही समस्त सभा ने उसको नमस्कार किया, राजा जयसिंह ने भी किया। जगदेव राजा जयसिंह के आधे सिंहासन पर जा बैठा।

वेश्या झूठा रिश्ता बता उसे अपने यहाँ लिवा ले गयी।

१५. शहर कोतवाल डूंगरजी का पुत्र लालकुंवर उस पर रीझ गया। उसके पलंग पर गया। वीर० ने शराब पिला बेहोश कर उसे मार डाला और बिस्तर में बांध बाहर सड़क पर फेंक दिया।

१६. उसे पहरे के सिपाही उठाकर कोतवाली ले गये जहाँ प्रातः कोतवाल डूंगरजी ने अपने बेटे की लाश पहचानी।

१७. उसने जामोती का घर घेरा तथा वीरमती को पकड़ना चाहा, पर उसने कई को मारा, कोई उसे

पकड़ नहीं सका ।	
१८. सिद्धराज को समाचार मिला वह घटनास्थल के लिए चला ।	
१९. अश्वपाल के पास पहुँचे, अश्व लिया । अश्वपाल को साथ लिया अश्वपाल की ही सेवा में जगदेव हो गया था, वह भी साथ चला ।	
२० जामोती के पहुँच कर जयसिंह ने वीर० से अता-पता पूँछा पर जगदेव के कहने पर ही उसके किबाड़ खोली, तथा जयसिंह उसे पुत्री मान साथ ले गया तथा जगदेव को नौकर रख लिया ।	(इ)
२१. जयसिंह की मृत्यु की देवी को जगदेव ने अपने दोनों	५. जयसिंह ने जगदेव को हजक दिया ।

४७. वह सलूनों का दिन था। चारणी कंकाली अपना लेने सभा में गयी। (आ) २४

बच्चों, पत्नी तथा अपना सिर चढ़ाया, देवी प्रसन्न उसने जयसिंह की ४८ वर्ष की आयु बढ़ा दी, प्रसन्न हो जयसिंह ने जगदेव से ज्येष्ठ पुत्री का विवाह, और दो हजार गाँव। (इ) ६

२२. भुज नगर के लाखा राजा के पुत्र फूल की बड़ी लड़की की शादी जयसिंह से और छोटी की जगदेव से।

२३. सिद्ध० की जाड़ेजी रानी के साथ काल भैरव प्रेम करता था। उसे युद्ध में हरा-कर जगदेव ने वश किया और जाड़ेजी रानी को मुक्ति दिलायी। (इ) ८

२४. चामुंडा माता बारहट की नारी का

६. सिद्ध० के उदास देख शिकार में जग० ने कारण पूछा। बताया कि उसके महल में रात को देवता आता है।

७. जग० रात को बाग में गया। आधी रात एक असवार आकाश से उड़कर महल में गया। जगदेव ने देखा।

८. महल से उसके लौटने पर जग० ने उसे बांधा. सवेरा होते समय वह दुर्बल हुआ तो उसे नीचे पटका। उसने

पहले उसने लाज काढ़ कर सीधे हाथ से टीका जगदेव के किया। (इ) ११	वेष बना माँगने सिद्ध० के दरबार में पहुँची। (अ) ४७	घोड़ा तलवार देकर प्राण मांगे और महल में न आने का वचन दिया। (आ) २३
		९. जय० ने अपनी पुत्री का विवाह जगदेव से, चौथे हैं सै री धरती दी, आधी गद्दी दी। (आ) २१
		१०. दरबारके समय जय० बैठा, एक भाटणी सिर खोले आई बायें हाथ से आशीश दी। (अ) ४८
४८. फिर बांये हाथ से टीका राजा जयसिंह के किया। (इ) १०		११. तभी जगदेव आया तो भाटणी ने माथा ढका और दाहिनें हाथ से आशीष दी। (अ) ४७ (आ) २४
४९. इसके बाद जगदेव चला आया।		
५०. सभ्यों को कंकाली का आचरण बड़ा अद्भुत लगा। उन्होंने राजा से कहा। राजा ने दूसरे दिन सभा में कंकाली से उस प्रकार के आचरण का कारण पूछा। (इ) १२		१२. राजा को इस पर आश्चर्य, पूछा। (अ) ५०

५१. कंकाली ने बताया कि जगदेव धारा का धनी था और उसी में मुझे पुरुषत्व दीखा। इसलिए लाज निकाली, और उसमें सभी ऊंचे गुण हैं, दानी भी है, इसीलिए सीधे हाथ से तिलक किया। (इ) १३	१३. कंकाली ने बताया-दरबार में मर्द नहीं था। जगदेव मर्द आया, वह दाता भी है। (अ) ५१
५२. राजा जयसिंह ने कंकाली से कहा अच्छा दानवीरता की परीक्षा लो। जो वह देगा उसका ग्यारह गुना में दूंगा। यह जयसिंह ने शपथ लेकर कहा। (इ) १४	१४. दानवीरता की बात सुन जय० ने कहा, जो जगदेव देगा उसका चौगुना दूंगा। (अ) ५२
५३. कंकाली दूसरे दिन जग० के यहाँ गयी। जगदेव स्नान करके आया ही था। जगदेव ने कहा—कंकाली मांग।	१५. कंकाली कनड़ी ने जगदेव से कहा सिर दो। (अ) ५४
५४. कंकाली ने कहा अपना सिर राजसी आभूषणों से सजा कर अपने एक हाथ में खड्ग और दूसरे में थाली लेकर उसमें अपने हाथ से सिर काट कर मुझे दो। (इ) १५	१६. एक स्त्री ने कहा और बहुत सी संपत्ति दीजिये, सिर नहीं।
५५. राजा जगदेव ने अपनी रानी फूलमदे से अपने बचन की बात कही और रानी ने कहा वह तो आज्ञाकारिणी है।	१७. जगदेव ने उसे समझाया।
	१८. दूसरी स्त्री ने कहा कंकाली मांगती है तो दीजिये।

५६. रानी ने आभूषण पहराये और राजा ने अपने हाथ से सिर काट कर दूसरे हाथ की थाली मे रखा।		
५७. कंकाली को वह सिर भेंट में दिया। (आ) २५, (ई) १६	२५. जगदेव ने उसे अपना सिर काट कर दे दिया। (अ) ५७ (इ) १६	१६. जगदेव ने सिर काट कर कंकाली को दे दिया। (अ) ५७ (आ) २५
५८. सिर लेकर कंकाली ने कहा—रानी मैं कंकाली कंदली हूं। दक्खिन देश से आई हूं। इस मर्द का यश रहा, तेरा सुहाग रहेगा। ईश्वर से प्रार्थना कर।		
५६. सिर लेकर कंकाली जयसिंह के दर्बार में गयी और राजा से बचनानुसार ग्यारह गुना देने को कहा। (इ) २०		२०. कंकाली ने जयसिंह से कहा जगदेव ने जो दिया है उसका चौगुना दें। (अ) ५६
६०. राजा अपने भवन में जाकर नौ रानियों और ६ पुत्रों से सिर देने के लिए कहने लगा। कोई भी तैयार नहीं हुआ। राजा भी नहीं।		
६१. कंकाली ने जयसिंह की भर्त्सना की। (आ) २६	२६. इससे सिद्ध० का यश फीका पड़ा। (अ) ६१	२१. यह देखकर जयसिंह भाग गया।
६२. वह सिर लौटाकर फूलमदे के पास लायी और जगदेव के धड़ से सिर लगाकर रानी से कहा कि भगवान से प्रार्थना कर तेरा सुहाग मिलेगा।		
६३. रात भर रानी और कंकाली प्रार्थना करती रहीं।	२७. देवी ने जगदेव को पुनः जीवित किया। (अ) ६४ ((२२	२२. कंकाली ने सिर धड़ पर रख जगदेव को जीवित किया और आशीष दी। (अ) ६४ (आ) २७
६४. प्रातः होते ही जगदेव को जगाने रानी गयी तो जगदेव उठ बैठा। (आ) २७ (इ) २२		

२८. इससे जयसिंह जगदेव से रुष्ट होगया।	२३. आशीष दे कंकाली उड़ गयी।
२९. जगदेव अब अपनी जाड़ेजी पत्नी के साथ टोंकटोड़ा होता हुआ घर पहुँचा।	
३०. धारा में उसका स्वागत हुआ। मरणोन्मुख पिता ने जगदेव को राज दिया। रणधवल को नहीं।	
३१. जगदेव ने ५२ वर्ष धारा में राज्य किया और उसके बाद जगधवल उसका लड़का राजा हुआ, उसकी तीनों रानियाँ सती हो गयीं।	

इन समस्त कहानियों को देखने से विदित होता है कि जगदेव की कहानी में एक सामान्य तत्व यह है कि उसे असंतुष्ट होकर धार छोड़ना पड़ा—वह जयसिंह-जयचन्द के राज्य में गया—उसके दरबार में उपस्थित हुआ—वहाँ उसने मांगने पर अपना सिर चारणी-कंकाली देवी को चढ़ा दिया। प्रतीत होता है कि यही इसका मूल रूप है। जगदेव के यश ने उसे लोक में पूज्य बना दिया, तब उसमें नये उत्साह के साथ उसके नये साहसिक कार्य जोड़ दिये गये।

इस प्रयत्न में जहाँ-जहाँ जैसी-जैसी पृच्छाएँ खड़ी हुईं, वैसी-वैसी ही कथाएँ समाधान के लिए जुड़ती गयीं। पहला प्रश्न उपस्थित हुआ कि जगदेव ने धार क्यों छोड़ा। उस जैसा अपने युग का महान वीर अकारण ही क्यों अपना घर छोड़ता। इसके लिए कल्पनाएँ प्रस्तुत हुईं कि—

धार का त्याग

१. जगदेव ने सौतेली माँ के अत्याचार के कारण धार छोड़ा। इसकी शाखाएँ हुईं—

(अ) सौतेली माँ ने जगदेव और उसकी मां को जगदेव के जन्म से ही महलों से निकाल बाहर किया था।

(आ) राजा जब कभी जगदेव को कोई वस्तु देता तो सौतेली माता उसे वापिस मँगा लेती।

(इ) जगदेव की जो सगाई आई वह उसने रणधवल को चढ़वायी।

(ई) सौतेली माँ ने यज्ञ के अवसर पर जगदेव की मां का अपमान किया।

२. जगदेव के जन्म के समय की एक घटना के कारण, जिसके दो रूप हुए—

(१) जब जगदेव का जन्म हुआ तो समाचार राजा के पास भेजा गया। राजा सो रहा था, दूत सिरहाने खड़ा हुआ। कुछ देर बाद रणधवल पैदा हुआ, उसका समाचार लेकर दूत गया—वह पैरों की ओर खड़ा हुआ। राजा जगे, पैरों की ओर खड़े दूत ने रणधवल के जन्म का समाचार दिया।
राजा ने उसे बड़ा माना, और जगदेव को छोटा।

(२) जब जगदेव पैदा हुआ तो राजा अपने से बड़े राजा के यहाँ था। बंदी था या काम पर था: जगदेव का समाचार ले जाने वाला धीरे-धीरे चला। रणधवल पैदा हुआ, उसका समाचार भेजा गया, रणधवल का समाचार-वाहक पहले पहुँचा। उसे ही पहले पैदा हुआ मान लिया गया। जगदेव वाला बाद में पहुँचा। उसे छोटा माना गया।

३. जगदेव और रणधवल की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा में जगदेव के विशेष बल से रणधवल युवराज के आतंकित होने के कारण—

(अ) जगदेव ने देवी के बल से एक भारी तोप को उठाकर उसकी सांग बनवाई और उसे राज-दरबार में गाड़ दिया।

(आ) रणधवल ने जो भारी तवे बनवाये उन्हें सांग से वेध दिया ।

(इ) रणधवल ने जो हाथी भेजे उन्हें मार दिया । यह आतंक फैलाकर वह वहाँ से चल दिया ।

४. जगदेव के प्रबल बल को देखकर उसके आतंक को धार से दूर करने के लिए उसे प्रेरित किया गया कि वह अपने पिता की 'बंदि' छुड़ाये ।

(अ) पिता कनवज की रानी से विवाह करने गये थे और बंदी बना लिये गये थे ।

(आ) पिता किसी शाहंशाह के सामन्त थे उसने खिराज न देने के कारण उन्हें नजरबन्द कर रक्खा था ।

यह कल्पना पुत्र पैदा होने के समय से विशेषत: संबंधित है. बंधन-मोक्ष के लिए जाने से नहीं । यद्यपि पुत्र-जन्म के उत्सव से प्रसन्न हो बंधन-मुक्त किये जाने की कल्पना से पिता की मुक्ति और पुत्र का सम्बन्ध इसमें भी है ।

जगदेव के पराक्रम

जगदेव बहुत बलवान था, यह बात धारा में ही सिद्ध हो चुकी थी । वह धारा से चला । चला तो उसके उपरान्त उसने कुछ-न-कुछ पराक्रम किये ही होंगे । इन पराक्रमों का वर्णन ही यथार्थत: जगदेव की इस लोकगाथा का मूल उद्देश्य है । धारा में भी उसने पराक्रम दिखाया । धारा में उसके पराक्रम का क्या मूल्य लगता, उसे बाहर जाकर उसका उपयोग करना था । तब क्या-क्या पराक्रम किये । कुल पराक्रम यों दिये जा सकते हैं—

(१) सिंह को मारा,—आ, ई,

(२) दाने को मारा, अ, ई,

(३) दूसरा नकली चांद चमकाया—अ,

(४) काल भैरव या कालूदेव को परास्त किया—आ, इ, उ, ओ

(५) चारणी कंकाली को दान में सिर दिया—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऐ, ओ

(६) अपने समस्त कुटुम्ब की बलि देवी को दे, अपने आश्रयदाता राजा की आयु बढ़ायी—आ,

(७) सूरसेन के कावरियों का कर्ज चुकाया—ई

(८) एक राजा के सूखे बाग को हरा कर दिया—ई

(९) कनवज की रानी को बल से तथा पहेली बताकर परास्त किया, पिता को मुक्ति दिलायी, (पिता से उसका विवाह कराया)—ई, ए

(१०) एक सूखे ताल में अपनी बलि देकर उसमें पानी परिप्लावन किया—ई

(११) एक राजकुमारी के मुख से रात को नागिन निकलती थी, वह एक मनुष्य को रोज डसती थी । जगदेव ने उस नागिन को नष्ट किया—ई

(१२) एक दाने को दान में अपना सिर दिया—ई

(१३) काली-पीली मिली सरसों एक रात में अलग-अलग करायी—ई

इन पराक्रमों के अनुसार देखें तो घटनाओं अथवा पराक्रमों के समावेश की गिनती रूपान्तर क्रम से यों हैं—

अ—आ—इ—ई—उ—ऊ—ए —ऐ—ओ—
३—४—२—१०—२—१—१—१—२

अब इन रूपान्तरों का किन पराक्रमों में पारस्परिक साम्य है, यह इस फलक से देखा जा सकता है—

अ —०—२—३—०—५—०
आ —१—०—०—४—५—६
इ —०—०—०—४—५—०
ई —१—२—०—०—५—०—७—८—९—१०—११—१२—१३
उ —०—०—०—४—५—०
ऊ —०—०—०—०—५—०
ए — ९
ऐ —०—०—०—०—५—०
ओ —०—०—०—४—५—०

२—२—१—४—८—१—१—१—२—१—१—१—१

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि जगदेव का मूल पराक्रम 'दान में चारणी को सिर देना' ही है। लोक कथाकार ने जगदेव के इस अलौकिक कृत्य से ही सन्तोष नहीं किया, उसके पौरुष और दान दोनों की श्लाघा के लिए अन्य पराक्रम भी उसमें जोड़े। क्योंकि पृच्छा थी कि क्या एक ही कृत्य उसने किया होगा।

गिनती में दूसरा महत्व 'काल भैरव' को परास्त करने की घटना का है। यह पराक्रम दो रूपों में आया है। एक तो स्वतन्त्र पराक्रम के रूप में, दूसरे जगदेव के सिर दान के लिए चारणी की याचना का कारण प्रस्तुत करने के लिए। 'कालभैरव' जगदेव से परास्त हो गया तो उसने माता से हठ की कि वह जगदेव का सिर लाकर उसे दे। देवी माता तभी चारणी बनकर सिर माँगने गयी।

समस्त कथा-विधान पर ध्यान देने से विदित होगा कि 'सिर माँगने' के कार्य के लिए समस्त कारण उस स्थल पर प्रस्तुत हैं, जहाँ 'सिर माँगने' के लिए चारणी गयी थी।

चारणी गयी—वह दैवी तत्व से युक्त थी, दैवज्ञ थी अथवा देवी ही थी—उसने राजा के साथ एक प्रकार का व्यवहार किया, और जगदेव के साथ दूसरे प्रकार का। निश्चय उसने जगदेव का विशिष्ट व्यक्तित्व स्वीकार किया। इसमें उसने यह सिद्ध किया कि 'मर्द' या 'पुरुष' उस समस्त समाज में 'जगदेव' ही था और वह महान् दानी भी था। दैवज्ञ होने के कारण वह यह जानती थी कि 'जगदेव' के पौरुष से 'धारा' आतंकित थी। वह यह भी जानती थी कि जो व्यक्ति धारा को इस प्रकार निर्लिप्त भाव से त्याग सकता है, वह कितना त्यागी होगा। वह 'जगदेव' के यथार्थ पौरुष और दानशीलता को भी

of Administration, Mussoorie
Acc. No. 126506
Date

उसके आन्तरिक गुणों के रूप में भी और दैवज्ञ होने के कारण भी जान सकती थी। इसीलिए उसने वह व्यवहार-भिन्नता दिखायी। इसके लिये यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि कालभैरव को पछाड़ने के कारण ही वह उसे पुरुषार्थी मानती थी।

राजा ने जगदेव से पुरुषार्थ में होड़ करने की बात आगे नहीं बढ़ायी, दान में ही स्पर्धा दिखायी। क्योंकि दान तो 'सम्पत्ति' के परिमाण पर निर्भर करता है, और वह राजा, और राजा ही क्या कोई भी कह सकता था कि जगदेव के पास राजा के समान संपत्ति कहाँ? अतः इस स्पष्ट आधार पर ही राजा खड़ा हुआ, और उसने कहा कि जो जगदेव दान में देगा उसका चौगुना, ग्यारह गुना या सौगुना वह देगा, पर बल की माप तो राजा नहीं कर सकता था, अतः पुरुषार्थ की परीक्षा को छोड़ दान में ही होड़ का राजा का आग्रह था। और देवी या चारणी ने उसे स्वीकार कर लिया। तभी उसने जगदेव से सिर माँगा, क्योंकि कुछ ऐसे अलौकिक दान भी हो सकते हैं, जो संपत्ति से नहीं तुलते। सिर का दान ऐसा ही है। और देवी ने वह जगदेव से माँगा। अतः दानादि मांगने का सुझाव, वह भी सिर का दान माँगने का सुझाव, वहां, उसी सभा-भवन में राजा की स्पर्द्धा-वृत्ति अथवा एक विशेष आग्रह के कारण देवी के मन में स्वयं ही उठ खड़ा हुआ। या जैसा कुछ रूपान्तरों में मिलता है, जगदेव के मन में भी उसी होड़ में राजा को नीचा दिखाने के लिए सिर देने का भाव उठा। देवी के मन में भाव उठना अधिक स्वाभाविक है। अतः इसके लिए 'कालभैरव' के कथांश की कल्पना अनिवार्य नहीं। पर लोक-मानस ने अपनी सामान्य पृच्छा का भी आदर किया और उसके समाधान के लिए कुछ रूपान्तरों में काल भैरव को कारण स्वीकार कर लिया।

यह सिर दान में देने की घटना स्वयं इतनी अलौकिक रही कि कुछ ने इसको स्वीकार कर उसके लिए अन्य कारण भी प्रस्तुत किया, जैसे गढ़वाली कथा में। देवताओं की सभा में ऐसे व्यक्ति को तलाश करने का निश्चय किया गया जो सिर दान में दे सके, क्योंकि ऐसा व्यक्ति ही गढ़वाल का राजा बनाया जा सकता था।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मूल घटना 'शीश दान' की ही है। यही धार छोड़ने के बाद का उसका मुख्य पराक्रम था। अन्य सभी पराक्रम उसमें बाद में मिलते गये।

इस पराक्रम के साथ 'धारा' का पराक्रम भी जोड़ा जायगा। अतः जगदेव के अथवा पूर्ण लोक-वृत्त में दो पराक्रम ही प्रमुख रहे—

१. धारा के त्याग से सम्बन्धित

२. शीश दान से सम्बन्धित

शेष समस्त वृत्त इन्हीं दो में दो दृष्टियों से जोड़े गये। परिवर्द्धनों में बताई एक दृष्टि परिचय को पूर्ण करने और कारण प्रस्तुत करने के लिए। दूसरी दृष्टि महत्व माहात्म्य को बढ़ाने के लिए।

१. (अ) परिचय को पूर्ण करने के लिए ये वृत्त हैं—

१. जगदेव के पिता-माता-भाई का परिचय

(आ) कारण की दृष्टि से ये वृत्त जुड़े हैं—

I. धारा के वृत्त में

१. फकीर के वरदान वाला वृत्त —
- इसके लिए राजा का शिकार को जाना।
- फकीर को प्रणाम करना, फकीर का प्रसन्न होना।
- उसका संतान के लिए वरदान देना।

२. (अ) राजा के सोते समय
(आ) राजा का किसी बड़े राजा के यहाँ होने से
- बाद में पैदा हुए रणधवल का समाचार पहले और पहले पैदा होने वाले जगदेव का समाचार बाद में, जिससे छोटा राज्याधिकारी घोषित

३. मौसी के अत्याचारों का

४. मौसी द्वारा अनादर का

५. जगदेव के बल-प्रदर्शन का

६. जगदेव के पिता के अन्यत्र बंदी होने का

II. धारा से बाद के वृत्त में

१. कालभैरव का वृत्त

२. विष्णु-सभा का वृत्त

३. राजा से जगदेव की पहली प्रतिद्वन्द्विता का वृत्त

१. तेली विषयक

२. नकली चांद विषयक

२. माहात्म्य-वर्द्धन के वृत्त

शेष सभी वृत्त जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, माहात्म्य वर्द्धक हैं।

इन माहात्म्य-वर्द्धक वृत्तों के भी कारण-प्रस्तोता वृत्त मिलते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है जगदेव-पत्नी का वृत्त।

इस वृत्त के द्वारा कथाकार ने वह माहात्म्य-प्रस्तुत किया है जिससे राजा ने जगदेव को अपनाया। इस वृत्त में ये क्रम है—

१. जगदेव का नौकरी ढूंढने जाना।

२. अकेली जगदेव-पत्नी का वेश्या द्वारा कोतवाल-पुत्र के लिए अपहरण

३. जगदेव अश्वपाल की सेवा में प्रवृत्त

४. वेश्या के यहाँ जगदेव-पत्नी ने उन्मत्त कोतवाल पुत्र को मारकर सड़क पर फेंक दिया।

५. कोतवाल के आदमी जगदेव-पत्नी को गिरफ्तार करने में असमर्थ।

६. राजा के पास समाचार पहुँचा। वह अश्वपाल से अश्व ले अश्वपाल और जगदेव के साथ वेश्या के यहाँ।

७. वहाँ जगदेव के कहने से जगदेव-पत्नी का द्वार खोलना। राजा ने जगदेव-पत्नी को बहिन माना और जगदेव को विश्वस्त नौकर बनाया।

जगदेव-पत्नी के एक अन्य वृत्त का माहात्म्य-वर्द्धन के लिए भी उपयोग किया गया है।

१. शीश ले जाने के बाद चारणी-देवी पुनः उस शीश को लेकर लौटती है और उसे जगदेव के धड़ से जोड़ कर उसे जीवित करना चाहती है, तभी पत्नी कहती है। कि दान में दिया हुआ सिर नहीं लौटाया जा सकता। विवश हो देवी को—

१. धड़ में से ही दूसरा सिर निकालना पड़ता है, या

२. धड़ से नारियल लगाकर उसे जगदेव के सिर के रूप में परिणत करना पड़ता है।

एक विशेष वृत्तः बंगाल का मवासा

मथुरा के मवासों में एक मवासा बंगाल का है। इसमें जगदेव को बंगाली जादूगरनियाँ मेंढ़ा बना लेती हैं। उस बंधन से देवी आकर उसे मुक्त करती है।

जगदेव की कथा की विविध भूमियाँ

जगदेव के इन कथा-वृत्तों में सबकी भूमि एक ही नहीं है। इसकी सामान्यतः हमें तीन भूमियाँ मिलती हैं—

१. शुद्धलोककथा—अ, आ, इ, उ, ए
२. पुराण-कथा ऊ, ऐ।
३. साम्प्रदायिक-कथा—ई तथा ओ।

शुद्धलोक-कथा के रूप में जगदेव की कथा सामान्य लोक में प्रचलित सामान्य लोक-कहानी के रूप में संग्रह की गयी है। उनका उद्देश्य शुद्ध लोक कहानी प्रस्तुत करना है।

पुराण-कथा के रूप में जगदेव की कथा एक कारण-कथा (Acteological) है, जिसमें कथाकार विश्वास करता है। पंवार वंश का राज्य गढ़वाल में या हिमालय के किसी प्रदेश में क्यों हुआ इसी के लिए जगदेव पंवार की कथा वहाँ कही जाती है।

साम्प्रदायिक भूमि वाली कथा किसी विशेष संप्रदाय में एम्प्रदायिक दृष्टि से उपयोग में आती है। जगदेव की कथा 'देवी' अथवा 'शक्ति' संप्रदाय के क्षेत्र की है। ब्रज की कहानी तो निश्चय ही 'देवी-पूजा' के क्षेत्र से आयी है। यह वहीं प्रचलित भी है। बुंदेलखंड की कहानी भी कुछ वैसी ही लगती है, पर निश्चय पूर्वक उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि महाकवि डा० मैथिलीशरण गुप्त ने उसे सामान्य लोक-कथा के क्षेत्र से ही चुना हो।

देवी और जगदेव

इन समस्त विविध भूमियों से सम्बन्धित रहते हुए भी यह तो स्पष्ट ही है कि प्रत्येक कथा में (अवधी को छोड़कर जिसका पूरा रूप हमें उपलब्ध नहीं हुआ) 'देवी' अवश्य आती है, और वह शीश का दान मांगती है, और उसे पुनरुज्जीवित भी करती है। अतः यह तो असन्दिग्ध है कि जगदेव-कथा का मूल-स्रोत देवी या शाक्त सम्प्रदाय का ही क्षेत्र है। वहीं इसका उद्भव हुआ, और वहाँ से यह सामान्य लोक-कथा के रूप में या पुराण-कथा के रूप में प्रचलित हुई।

देवी कौन ?

समस्त कथाओं में 'देवी' का तो उल्लेख हुआ ही है, पर उसके कई नाम भी मिलते हैं जो हमें आकर्षित करते हैं—वे नाम हैं—

१. चारणी देवी।
२. भट्टिनी देवी।
३. कंकाली देवी।
४. कंदली कंकाली।
५. चामुंडा माता।

इनमें से चारणी, भट्टिनी या बारहटी देवी तो देवी को नाम इसलिए दिया गया कि वह दान लेने गयी, जैसे चारण, भाट या बारहट की पत्नी दानार्थ जाती हो। 'कंकाली और चामुंडा' ये अवश्य देवी के नाम हैं। कंदली विशेषण है और संभवतः 'कन्नड़ी' से व्युत्पन्न है। या 'कुन्तल' दोनों के संबंध से कुन्तली का कुंदली या कंदली भी सम्भव है।

चामुंडा और कंकाली में से चामुंडा तो कंकाली से पुराना नाम प्रतीत होता है क्योंकि 'चामुंडा' सप्तमातृकाओं में से एक हैं। सप्तमातृकाएँ ये हैं—(१) ब्राह्मी या ब्रह्माणी (२) माहेश्वरी, (३) कौमारी, (४) वैष्णवी, (५) वाराही (६) इन्द्राणी या ऐन्द्राणी, या माहेन्द्री, तथा (७) चामुण्डा।

हिन्दी कंकाली संस्कृत कंकालिनी का रूपान्तर है। कंकाल अथवा अस्थि से सम्बन्ध रखने के कारण कंकालिनी या कंकाली नाम पड़ा। बाद के काल में देवी या दुर्गा के इस रूप की प्रतिष्ठा हुई प्रतीत होती है, और इसका भाट या चारण जैसी किसी किसी गाने वाली जाति से भी विशेष सम्बन्ध हो गया प्रतीत होता है; क्योंकि हिन्दी विश्व कोष में कंकाली पर यह टिप्पणी है।

'कंकाली—जाति विशेष एक कौम। कंकाली लोग एक प्रकार के नट हैं।

यह किंगरी बजाकर भीख मांगते हैं।—हिन्दी विश्व कोश Vol. III, पृ० ५८४,

इसी प्रकार हिन्दी शब्द सागर में लिखा है—

कंकाली—संज्ञा पु० [सं० कंकाल] (स्त्री० कंकालिनी) एक नीच जाति जो गाँव गाँव किंगरी बजाकर भीख माँगते फिरते हैं।

यश कारण हरिचंद नीच घर नारि समप्यों ।
यश कारण जगदेव सीस कंकालिनि अर्प्यो—।। वैताल

संज्ञा—स्त्री० [सं० कंकालिनी] दुर्गा का एक रूप ।

इन दोनों व्याख्याओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि कंकाली एक जाति-विशेष भी थी जो किंगरी लेकर गांव-गांव गीत गाकर भीख मांगती थी । इससे यह स्पष्ट है कि यह जाति कंकाली देवी के गीत गाकर भीख माँगती होगी, और उसी कारण कंकाली कहलाने लगी । हिन्दी शब्द सागर में जो उल्लेख है उसमें कंकाली के उदाहरण के लिए जगदेव को कंकाली का ही उल्लेख है । कंकाली देवी चारणी का रूप भरकर भिक्षार्थ गयी । यह तथ्य भी कुछ देवी और जाति-विशेष के निकट सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। एक लोक-कथा में उसे नृत्य करने वाली भी बताया गया है, जो राजा तथा दरबार के समक्ष नग्न नृत्य कर रही थी, किन्तु जगदेव के आते ही वह नृत्य बंद कर, वस्त्रयुक्त हुई, नग्न न रह सकी । इस संकेत में देवी या गानेवाली चारणी और नर्तकी का समावेश है । जगदेव ने जिसे सिर दिया था वह चारणी रूप में देवी कंकाली थी । दूसरे शब्दों में कंकाली देवी की उपासिका चारणी ही थी ।

कंकाली नाम का वामन पीठों म से एक दवी पीठ बंगाल के बीर भूमि जिले में कोपाइ नदी के पास के श्मशान घाट पर स्थित है । [देखिये—? 'एंश्यंट ज्याग्रफी आव इंडिया' लेखक नंदलाल दे ।
मथुरा में भी कंकाली दवी के नाम पर एक प्राचीन कंकाली टीला आज भी विद्यमान है । इस समस्त ऊहापोह से यही स्पष्ट होता है कि जिस देवी को जगदेव ने शीश दान दिया वह कंकाली देवी ही थी । वह अपने उपासक कंकाली जाति की स्त्री का रूप धारण कर यह दान माँगन गयी ।

लोक-कथा के रूपान्तरों के कारण

जगदेव की लोक-कथा के जो विविध रूपान्तर ऊपर दिये गये हैं, उनकी सामान्य तुलना से ही स्पष्ट है कि विविध अभिप्रायों की द्योतक विविध लोक-कथाओं में विविध विकारों के ऊपर जो कारण बताये गये हैं, उनके अतिरिक्त कुछ बातों में स्पष्ट ही लोक-मानस की एक अनोखी प्रतिक्रिया झलकती है ।

१. इसमें सबसे अधिक आकर्षक तत्व है राजा का नाम । इस नाम ने इस कथा में कई चमत्कार पैदा किये है । राजा का नाम 'जय' से आरम्भ अवश्य होता है, यह बात प्रत्येक लोक-कथा से विदित होती है । किन्तु आगे यह नाम क्या था ? इसमें लोक-मानस ने अपनी-अपनी जानकारी से काम लेकर उसे पूर्ण किया है ।

एक क्षेत्र ने उसे जयसिंह माना । इस जयसिंह नाम से एक ओर तो जगदेव सिद्धराज जयसिंह से सम्बंधित हुए । इस कथा में जगदेव गुजरात पहुंचे हैं ।

दूसरे क्षेत्र को जयसिंह जयपुर के राजा ही प्रतीत हुए, और जगदेव को जयपुर जाना पड़ा है । जयसिंह की ज्योतिष विषयक प्रसिद्धि भी इस कथा में नकली चन्द्रमा के रूप में सम्मिलित हो गयी ।

तीसरे को 'जय' के कारण 'जयचंद' का ही स्मरण हुआ, और जगदेव को कन्नौज जाना पड़ा है। उसके बाद भी उत्साही कथक्कड़ उसे बंगाल और उससे आगे भी ले गया है।

२. जयसिंह और जगदेव एक ही राजदरबार में थे, तभी चारणी द्वारा दोनों के प्रति भिन्न आचरण की घटना घटी। इसने कई सम्भावनाएँ प्रस्तुत कर दीं—

१. जगदेव इतना प्रबल सिद्ध हो चुका था कि जब वह दरबार में गया तो जाकर सीधे जयसिंह के आधे सिंहासन पर बैठ गया। किसी ने चूं तक न की।

२. जगदेव ने जयसिंह पर ऐसा उपकार किया था कि उसके बदले में उसने अपना आधा राज्य उसे दे दिया था, और अपनी लड़की का विवाह कर दिया था, जिससे जगदेव जयसिंह के साथ आधे सिंहासन पर बैठा था।

३. जगदेव को जयसिंह ने नौकर रख लिया था, वह प्रतिदिन दरबार में जयसिंह को प्रणाम करने जाता।

४. जयसिंह और जगदेव भाई-भाई थे। साथ-साथ राज्य करते थ। [इसका मूल इतिहास में दिखायी पड़ता है। जगदेव का एक निकट पूर्वज जयसिंह भी था।]

३. जगदेव पहले पैदा हुआ फिर भी उसके जन्म का समाचार पिता के पास देर से पहुँचा—इसके लिए ये सम्भावनाएँ ग्रहण की गयीं—

(अ) राजा कहीं बाहर थे—जगदेव का समाचार वाहक पोस्ती था, धीरे धीरे गया। रणधवल का समाचार वाहक तेज था।

(आ) राजा सो रहे थे—जगदेव वाला सिरहाने खड़ा हुआ। रणधवल वाला पांयत खड़ा हुआ।

४. जगदेव ने स्वेच्छया अपना सिर बलि दिया

I. इसने ये कल्पनाएँ प्रस्तुत की—

(अ) चारणी को सिर बलि दिया। दाने को मांगने पर सिर दिया।

(आ) राजा जयसिंह की आयुष्य बढ़ाने के लिए और राज्यलक्ष्मी स्थिर रखने के लिए अपनी, अपने लड़के, अपनी लड़की तथा अपनी पत्नी की स्वेच्छया बलि चढ़ायी।

[यह कथा-सरित्सागर के 'बीरवल' की कहानी है।]

इसी बलि के भाव ने अन्य स्वेच्छया 'बलि' जैसे पराक्रम के लिए होने वाली सम्भावनाओं को उपस्थित किया।

II. (अ) दाने के लिए राज्य से एक बलि। एक ब्राह्मणी के इकलौते पुत्र की बारी। जगदेव उसी के यहाँ अतिथि। जगदेव ने उसके पुत्र को बचाने के लिए स्वेच्छया उसके स्थान पर दाने के लिए बलि जाने का निश्चय—परिणाम में दाने का मारना।

[यह जीमूत वाहन और भीम की एकचक्रा की घटना की कहानी है।

(आ) तालाब में पानी आने के लिए अपने सिर की बलि—[यह एक अत्यन्त व्यापक कथानक-रूढ़ि है। इसके लिए देखिये भारतीय साहित्य अंक जुलाई वर्ष…३…'अोघ द्वादशी' पर निबंध।

(इ) काल भैरव या कालू देव को परास्त करने की घटना की सम्भावना भी इसी से सहजात है।

(ई) राजकुमारी के मुख से निकलने वाली नागिन को मारकर प्रतिदिन एक युवक की मृत्यु को रोकना। यह बिल्कुल II (अ) का ही दूसरा रूप है। दाने के स्थान पर राजकुमारी तथा उसके मुख की नागिन है।

III. शेर को मारने की घटना भी दाने को मारने की घटना से सूझ सकती है।

IV. एक सूखे बाग को हरा किया।

५. देवी की कृपा के चमत्कार

देवी की कृपा के चमत्कार से तो सामान्यतः साम्प्रदायिक दृष्टि वाले कथा-रूप अधिक ओत-प्रोत हैं। इस सांप्रदायिक दृष्टि का भी मूल बिन्दु तो वही चारणी देवी को शीश दान विदित होता है जो प्रायः सभी कथाओं में विद्यमान है। इसी घटना से जो सम्भावनाएँ हुईं, उन्हें इस क्रम से रख सकते हैं—

जगदेव ने देवी को शीश-दान दिया।
क्यों दान दिया?
देवी ने शीश माँगा।
देवी ने जगदेव से शीश क्यों माँगा?

(अ) वह देवी का भक्त था।

१. उसने धारा में ही देवी सिद्ध कर ली थी।

(आ) देवी अपने भक्त का यश बढ़ाना चाहती थी और प्रतापी से प्रतापी राजा को भी अपने भक्त के समक्ष नीचा दिखाना चाहती थी।

(इ) देवी माता काल भैरव की हठ को भी पूरा करना चाहती थी।
१. हठ पूरा करके भी वह काल भैरव से बढ़ कर ही अपने भक्त को सिद्ध करना चाहती थी।

वह देवी का भक्त था और देवी उसे सिद्ध थी तो देवी ने उस पर क्या-क्या कृपा की—

१. देवी ने उसे अपार बल दिया।
   (अ) इतनी भारी तोप देवी की कृपा से उसने उठायी।
   (आ) ऐसी भारी सांग उसी की कृपा से चलायी।
   (इ) तबे बींधे।
   (ई) ऐसे अन्य पराक्रम, दाने को मारने, सिंह को मारने के, कालू को पछाड़ने के देवी की कृपा से सिद्ध हुए।
२. देवी ने उसे पुनरुज्जीवन दिया—
   (अ) समस्त कुटुम्ब की बलि चढ़ाने पर देवी ने सबको पुनरुज्जीवित किया।
   (आ) चारणी को शीश बलि देने पर पुनः शीश प्रदान देवी ने किया।
   (इ) तालाब पर बलि चढ़ाने पर पुनः शीश देवी ने प्रदान किया।
३. देवी ने उसे अन्य संकटों से भी उबारा।
   (१) काबरियो की समस्या से खड़ी होने वाली विपत्ति से उबारा।
   (२) कनबज की रानी की पहेली का उत्तर देवी की कृपा से।
   (३) बंगाल में मेंढ़ा बना लिया गया तो देवी ने ही उद्धार किया।

कथाचक्र

इस प्रकार एक बिन्दु से देवी की कृपा के विविध रूपों को दिखाने के लिए सम्भावित वृत्तों का समावेश भी इस वृत में होता गया। इस प्रकार लोक-कथा के रूप में ही एक भिन्नता उपस्थित हो गयी। जो मूलतः एक त्यागमयी घटना का नायक था, वह अनेकों त्यागमयी घटनाओं का नायक बन गया, और वह लोक-कथा जो एक घटना पर ही केन्द्रित कथा थी, वह घटना-मालाओं की कथा बन गयी और सामान्य-कथा-चक्र से निकल कर पराक्रम-माला-कथा-चक्र के परिवार में सम्मिलित हो गयी।

ब्रज का रूप

पराक्रम-माला-कथा-चक्र वाला रूप वस्तुतः इस लोक-कथा को ब्रज में ही मिला है। प्रायः अन्य सभी रूपों में दो-तीन पराक्रमों का ही अधिकाधिक समावेश हुआ है, किन्तु

ब्रज ने बारह मवासे खड़े कर दिये हैं। ब्रज के इन बारह मवासों में भी कई तो एक दूसरे के अनुकूल हैं। केवल कुछ रूप बदल कर अलग स्थान उन्हें दे दिया गया है।

१. सिर दान देने की दो कथाएँ—(अ) चारणी को सिर देना।
(आ) दाने को सिर देना।

२. दूसरे के उपकारार्थ बलि—(अ) देवियों को बलि देना, राजा की आयुष्य के लिए।
(आ) तालाब को बलि देना कि उसमें जल आ सके।

३. उपकारार्थ हिंस्रों का संहार—(अ) सिंह को मारा।
या दमन (आ) दाने को मारा।

(इ) राजकुमारी के मुख से निकलने वाली नागिन को मारा।
(ई) काल भैरव को परास्त किया।

इन तीन कथाओं से आठ कहानियां हो गयीं। शेष चार कथाऐं, घटनाएँ, मवासे स्वतंत्र रूप से आये हैं—

१. नकली चाँद चमकाना
२. काबारियों का कर्ज चुकाना
३. सूखे बाग को हरा करना
४. पहेली बताकर रानी को जीतना
५. काली-पीली सरसों को अलग करना

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक-मानस एक सामन्य-विन्दु से तदनुकूल विविध लोक-कथाओं को किस प्रकार एक कथा में जोड़ लेता है।

कुछ अन्य समावेश

ऊपर जिन पराक्रमों का उल्लेख हुआ है, उनमें कुछ संस्करणों में कुछ और भी पराक्रमों का सन्निवेश है।

I राजा के यहाँ से जगदेव फिर धार को लौटा।
धार को क्यों लौटा—

१. जगदेव के यश से, अपमानित हो राजा उससे द्वेष मानने लगा—इसलिए जगदेव धार लौटा।
२. जगदेव एक छोर से चलकर देश के दूसरे छोर तक पराक्रम दिखा चुका तो धार को लौटा।
३. जगदेव के यश के साथ धारा या मालवा का यश भी बढ़ा तो राजा ने जगदेव को नीचा दिखाने के लिए धारा या मालवा पर

आक्रमण करने का विचार किया, जिससे जगदेव ने धारा लौटने को निश्चय किया

II जब धारा को लौट रहा था तो मार्ग में देखा कि—

१. एक मिट्टी का गढ़ धारा के अनुरूप बनाया जा रहा है।

२. विदित हुआ कि राजा ने धारा को ध्वस्त करके ही अन्न-जल ग्रहण करने का निश्चय किया है। अतः यह नकली धारागढ़ बना कर राजा ध्वस्त कर देगा और अन्न-जल ग्रहण कर सकेगा।

३. जगदेव उस गढ़ में घुस गया। देवी से प्रार्थना करके उसे लोहे का गढ़ बना दिया, और अकेला उसकी रक्षा करने लगा।

४. इस समाचार को सुन कर राजा हताश हुआ।

यहाँ भी यह देखने को मिलता है कि इतिहास की कहां की कहानी कहां लोक-मानस ने जोड़ दी है।

ऐतिहासिक विचार

अब तक जगदेव की ऐतिहासिकता पर संदेह किया जाता था, और उसे मात्र लोक-कल्पना का वीर माना जाता था किन्तु इधर यह निश्चय सा हो चुका है कि जगदेव ऐतिहासिक व्यक्ति था। इसके लिए पहले तो केवल एक ही ऐतिहासिक प्रमाण था और वह था अमरुकशतक पर अर्जुन वर्मा की रसिक संजीवनी नाम की टीका में जगदेव का उल्लेख। किन्तु अब विद्वद्वर डा० दशरथ शर्मा ने ४ शिलालेखों में जगदेव के उल्लेखों का पता लगाकर उसके कुछ पूर्ण ऐतिहासिक वृत्त को उपस्थित किया है। उन्होंने 'राजस्थान-भारती' भाग ४, अंक ४ में 'त्रिविध वीर जगदेव पमार' शीर्षक निबंध दिया है। वह निबंध बड़ा है। फिर भी उसे यहाँ पूरा अविकल उद्धृत किया जाता है क्योंकि ऊपर के समस्त लोक-वृत्त के साथ उसकी ऐतिहासिक ऊहापोह भी रहने से अनुसंधित्सुओं और जिज्ञासुओं को सुविधा रहेगी।

१. जगदेव परमार का नाम समस्त भारत के इतिहास में प्रसिद्ध है। इसकी अपूर्व कीर्त्ति से मालव, राजस्थान, गुजरात, दक्षिणादि प्रदेश अब तक सुरभित हैं। यह अनेक विचित्र कथाओं का नायक है। अनेक कवियों ने अनेक भाषाओं में इसके गुण का गान किया है, किन्तु यह गुणगान इस सीमा तक पहुँच चुका है, कि गुण को ही हम द्रव्य समझ बैठे हैं। इस ऊपरी लीपापोती को दूर कर वास्तविक जगदेव परमार को राजस्थान-भारती के पाठकों के संमुख रखना इस निबन्ध का ध्येय है।

२. कथाओं के अनुसार मालवे के राजा उदयादित्य परमार के दो रानियाँ थीं, एक बाघेली और दूसरी सोलंकिन। बाघेली का पुत्र था रणधवल और सोलंकिन का जगदेव। बाघेली राजा की प्रेमपात्र थी; इसलिये उसीका पुत्र रणधवल युवराज नियत हुआ, और मनस्वी कुमार जगदेव को मालवा छोड़ना पड़ा। उसने पाटन जाकर गुर्जरराज सिद्धराज के यहाँ नौकरी की। विधिविधान से दी हुई सिद्धराज की आयु पूरी हो चुकी थी; किन्तु जगदेव

ने अपना, अपनी स्त्री का और अपने दो पुत्रों के मस्तक योगिनी को चढ़ाकर सिद्धराज के लिये ४८ वर्ष की आयु और प्राप्त की। इस अपूर्व स्वामिभक्ति से प्रसन्न होकर योगिनियों ने जगदेव को सकुटुम्ब पुनर्जीवित किया। सिद्धराज ने ये सब बातें छिपे-छिपे देखी थीं। उसने भरे दरबार में जगदेव की भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसका वेतनादि से मान बढ़ाया। कुछ दिन बाद सिद्धराज ने मालवे पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। जगदेव को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने सिद्धराज की नौकरी को तिलाञ्जलि दी और वापस मालवे पहुँचा। उदयादित्य ने उसका स्वागत किया। रणधवल के स्थान पर अब जगदेव युवराज नियत हुआ। उदयादित्य की मृत्यु के बाद, जगदेव गद्दी पर बैठा। उसने बावन वर्ष राज्य किया।[1]

३. मैं यही कथा अनेक रूप-रूपान्तरों में पढ़ और सुन चुका हूँ। किन्तु इसे सर्वथा विश्वसनीय मानना भूल है। जगदेव, अवश्य, उदयादित्य का पुत्र था। उसकी वीरता और दानशीलता भी निस्सन्दिग्ध है। पृथ्वीराजविजय से यह भी सिद्ध है कि उदयादित्य परमार और कर्ण चौलुक्य समसामयिक राजा थे।[2] इसलिये कर्ण चौलुक्य के पुत्र सिद्धराज जयसिंह के समय उदयादित्य परमार के पुत्र जगदेव परमार का अस्तित्व सम्भव है।[3] यह भी असम्भव नहीं है कि कुछ समय तक जगदेव गुजरात में ठहरा हो। उनके उत्तरकालीन वैमनस्य की ध्वनि भी हमें जयनद के शिलालेख में मिलती है। किन्तु बाकी सब कपोलकल्पना मात्र है। इतिहास से हमें जगदेव के रणधवल नाम या विरुद वाले किसी भाई का पता नहीं चलता। न हम यह मान सकते हैं कि अपने पिता के राज्यकाल में ही जगदेव ने जयसिंह सिद्धराज के दरबार में आश्रय लिया; क्योंकि जयसिंह के सिंहासनासीन होने से कई वर्ष पूर्व ही जगदेव के पिता उदयादित्य का देहान्त हो चुका था। यह भी झूठ है कि उदयादित्य की मृत्यु के बाद जगदेव मालवे की गद्दी पर बैठा; उसके बावन वर्ष राज्य करने का प्रश्न तो दूर ही रहा। उदयादित्य के वास्तविक उत्तराधिकारी जगदेव के बड़े भाई लक्ष्मदेव और नरवर्मा थे। इनमें लक्ष्मदेव जगदेव के समान ही वीर और कीर्तिशाली था।[4]

४. जगदेव परमार की वास्तविक जीवनी के मुख्य आधार निम्नलिखित हैं:—

(१) जगदेव के समय का शक सं० १०३४ (ई० स० १११२), का डोंगरगांव का शिलालेख

---

१. देखें फार्बस रचित रासमाला, भाग प्रथम, पृ० १७७ (एच० जी० रालिन्सन द्वारा सम्पादित संस्करण: राजस्थानी बातां (नवयुग साहित्य मन्दिर, बीकानेर द्वारा प्रकाशित), और विश्व वाणी, वर्ष ४, पृष्ठ ३२० पर श्री अगरचन्द नाहटा का लेख, 'दानवीर जगदेव पंवार'।

२. देखें सर्ग पञ्चम, श्लोक ७६-७८

३. श्री देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने न जाने इस सम-सामयिकता को क्यों सन्दिग्ध माना है (शिलालेख नं० २०८४ पर टिप्पण, लिस्ट ऑफ दी इंस्क्रिप्शन्स ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया)

४. लक्ष्मदेव के लिये नरवर्मा का वि० संवत् ११६१ का शिलालेख पढ़ें।

(२) जगदेव का जयनद का शिलालेख
(३) अमरुकशतक पर अर्जुनवर्मा की रसिक सञ्जीवनी नाम की टीका में जगदेव का उल्लेख
(४) होयसाल राज्य के कई शिलालेखों में जगदेव के आक्रमण का वर्णन
(५) भोजवर्मा का बेलाव शिलालेख
(६) प्रबन्धचिन्तामणि

५. जगदेव के प्रारम्भिक जीवन का सब से अच्छा वर्णन डोंगरगांव के शिलालेख में है। इसमें लिखा है कि भोज के भाई राजा उदयादित्य के अनेक पुत्र थे। किन्तु अपने मनोनुकूल पुत्र की इच्छा से उसने भगवान् शिव की आराधना की। इसके फलस्वरूप उसके जगदेव नाम का पुत्र हुआ। जब उदयादित्य स्वर्गस्थ हुआ तो राज्य जगदेव के प्रायः हस्तगत था। लक्ष्मी स्वयं उसे अपना पति चुन रही थी। किन्तु बड़े भाई से पूर्व विवाह करने से मनुष्य को परिवित्ति दोष लगता है; (मानो) इसी भय से उसने राज्य बड़े भाई को सौंप दिया।[५]

६. इस वर्णन से अनुमित किया जा सकता है कि जगदेव उदयादित्य का कनिष्ठ पुत्र था। पिता का बड़ा लाडला भी रहा होगा। भाई लक्ष्मदेव के राज्य काल में संभवतः वह मालवे में ठहरा किन्तु नरवर्मा के सिंहासनासीन होने पर उसने मालवा छोड़ा।[६] दन्तकथाएँ उसे मालवे से गुजरात पहुँचाती हैं। किन्तु डोंगरग्राम के शिलालेल में लिखा है कि उसने कुन्तलेन्द्र के यहाँ जाकर नौकरी की। कुन्तलेन्द्र उससे कहता, "तुम मेरे पुत्रों में सर्व प्रथम हो, तुम मेरे राज्य के स्वामी हो, मेरी दक्षिण भुजा हो, तुम मूर्तिमान् मेरी सब दिशाओं में जय हो, तुम मेरी आत्मा ही हो।"[७] इस स्पष्ट उल्लेख की दन्तकथाओं से कुछ संगति मेरुतुङ्ग-रचित प्रबन्धचिन्तामणि के आधार पर की जा सकती है। उसने जो कुछ जगदेव के विषय में लिखा है वह इतना रोचक है कि उसे उद्धृत करने की उत्कट इच्छा का मैं संवरण नहीं कर सकता। यह उद्धरण जगदेव के जीवन पर ही प्रकाश नहीं डालता, यह उन कथाओं के खण्डन के लिए भी पर्याप्त है, जो जगदेव को सिद्धराज जयसिंह का भृत्य बनाती हैं। कत्थक लोग किस प्रकार से राजाओं के नामों को बदलते हैं—इसका भी यह उद्धरण अच्छा उदाहरण है। कुन्तलेन्द्र वीरविक्रमादित्य षष्ठ से राजस्थानियों और गुजरात वालों का क्या सम्बन्ध ? वे तो

५. एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड २६, पृष्ठ १८२, श्लोक ७-८.

६. नामसाम्य से लक्ष्मदेव जगदेव का सहोदर भाई प्रतीत होता है। दोनों में शायद पर्याप्त प्रेमभाव रहा हो। प्रबन्धचिन्तामणिके अनुसार जगदेव, सिद्धराज जयसिंह से सम्मानित होने के बाद, कुन्तलदेश में गया। सिद्धराज सन् १०९४ में गद्दी पर बैठा और इसी समय के आसपास लक्ष्मदेव की मृत्यु हुई। इससे भी यही अनुमान होता है कि लक्ष्मदेव की मृत्यु के बाद ही उसने मालवा छोड़ा। नरवर्मा से उसका विशेष सौहार्द न रहा होगा।

७. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड २६, पृष्ठ १८३, श्लोक ९

जानते थे बर्बरक-जिष्णु जयसिंह सिद्धराज को जिसके यहाँ एकाध महीने सम्भवतः जगदेव ठहरा। बस यही कुन्तलेन्द्र के स्थान पर गूर्जरेन्द्र को रखने का कारण रहा होगा। चालुक्य-राज को चौलुक्यराज समझना भी आसान था। मेरुतुंग के समय तक लोग जगदेव के विषय में कुछ जानते थे, यद्यपि उस समय भी जगदेव अनेक आश्चर्यमयी कथाओं का आधार बन चुका था। परवर्ती लेखक और कवि इस सामान्य ऐतिहासिक ज्ञान से भी प्रायः शून्य थे।

७. मेरुतुंग का वर्णन निम्नलिखित है[८] –

"जगदेव नामका क्षत्रिय त्रिविध वीर था। सिद्धराज द्वारा खूब सम्मानित होने पर भी जब उसे उसके गुणरूपी मंत्रसे वशीभूत शत्रुमर्दक परमर्दी राजा का निमन्त्रण मिला तो वह पृथ्वी-रमणा के केशकलापरूपी कुन्तल देश में चला गया। उसके आगमन की सूचना द्वार-पाल ने जब राजा को दी उस समय एक वेश्या नंगी होकर (राजा के सामने) पुष्पचलनक नृत्य कर रही थी। उसी समय उसने लज्जित होकर चादर ओढ़ ली और वहीं बैठ गई। राजा ने आ कर जगदेव को छाती से लगाया और उससे मधुरालाप किया। जगदेव को उसने प्रधान परिधान-दुकूल और लाखों की कीमत के अन्य दो वस्त्र दिये। जगदेव के महामूल्यवान् आसन पर बैठने पर जब सभा की हलचल समाप्त हुई, तो राजा ने उस वेश्या को नाचने का आदेश दिया। तब उचित बात को कहने में कुशल अत्यन्त चतुरा उस वेश्या ने उत्तर दिया—"जगत् का एक मात्र पुरुष जगदेव आज यहां आया है। उसके सामने बिना वस्त्र के नाचने में मैं लजाती हूँ। स्त्रियों के सम्मुख ही स्त्रियां मन-मानी चेष्टा करती हैं।" उसकी इस अपूर्व प्रशंसा से प्रसन्न होकर जगदेव ने राजा के दिये हुए दोनों वस्त्र उसे दे डाले।"

"इसके बाद जब परमर्दी के प्रसाद से जगदेव को किसी एक देश का आधिपत्य मिला, तो उसका ऋणग्रस्त उपाध्याय उससे मिलने आया। उसने यह काव्य भेंट किया—

अक्षत्रक्षतवालिनो भगवतः कस्यापि सङ्गीतक—
व्यासक्तस्य च तस्य कुन्तलपतेः पुण्यानि मन्यामहे।
एकः कामदुधामदुग्ध मरुतः सूनोः सुबाहुद्वयी
प्रत्यक्षप्रतिपक्ष-भार्गव-भवानन्यस्य चिन्तामणिः ॥

"हम दो आदमियों के पुण्य को मानते हैं; एक तो अक्षत्रिय-विधि से वाली को मारने वाले किसी भगवान् (रामचन्द्र) को, और दूसरे संगीत में आसक्त कुन्तलपति को। इसमें एक ने तो वायुपुत्र (हनुमान्) के कामधेनुरूप सुभुजद्वय का दोहन किया, और दूसरे ने चिन्तामणि स्वरूप शत्रुओं के लिये प्रत्यक्ष परशुराम आपको प्राप्त किया।

"इस काव्य के पारितोषिक में महादानी जगदेव ने आधी लाख (मुद्राएं) दीं।[९]
....

८. प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ० ११४-११६

९. इसके बाद प्रबन्ध चिन्तामणि ने १५ श्लोक और दिये हैं और उसके बाद लिखा है, "इत्यादीनि बहूमिका व्याणि यथाश्रुतानि ज्ञातव्यानि", जिससे स्पष्ट है कि मेरुतुंग के समय जगदेव-विषयक पद्यों की संख्या पर्याप्त रही होगी।

"राजा श्री परमर्दी की महारानी को जगदेव अपनी बहन मानता था। एक बार राजा ने सीमान्त के किसी राजा (?) को हराने के लिए जगदेव को भेजा। जब जगदेव देव पूजन कर रहा था, तो उसने सुना कि छलाघात से शत्रुसेना ने उसकी सेना को भगा दिया है। किन्तु उसने देवार्चन न छोड़ा। राजा ने चरों के मुख से जगदेव की इस अश्रुतपूर्व पराजय की बात जब सुनी तो उसने अपनी महारानी से कहा, "तुम्हारे भाई को संग्राम में वीरता का अहङ्कार है, किन्तु जब शत्रुओं ने उस पर आक्रमण किया तो वह भाग भी न सका।" राजा की ऐसी परिहासोक्ति को सुन कर महारानी अरुणोदय के समय पश्चिम दिशा को देखने लगी। राजा ने जब पूछा कि 'क्या देखती हो' तो उसने उत्तर दिया कि 'सूर्योदय को'। राजा ने कहा, "भोली-भाली स्त्री, क्या पश्चिम में सूर्योदय कभी हो सकता है?" उसने उत्तर दिया, 'पश्चिम में सूर्योदय विधि के विधान के विरुद्ध है। किन्तु इस दुर्घट वस्तु के घटित होने पर भी क्षत्रियदेव जगदेव की हार नहीं हो सकती।' पति-पत्नी इस तरह प्रियालाप कर रहे थे। उधर जगदेव ने देवार्चन के बाद उठ कर पांचसौ सुभटों के साथ शत्रु राजाओं की सेना पर आक्रमण किया और उसे इसी प्रकार आसानी से नष्ट कर डाला जैसे सूर्य अन्धकार को, केसरि-किशोर हाथियों के समूह को, और प्रचंड अंधड़ घनघोर घनघटा को नष्ट कर डालता है।"

८. गूर्जरदेशीय राजाओं के वृत्तांत के पूरे जानकार और उनके यश का अनेकशः गान करने वाले आचार्य मेरुतुंग के इस कथन से यह प्रमाणित है कि जगदेव गुर्जरदेश में अधिक दिनों तक नहीं ठहरा। शायद उसने सिद्धराज जयसिंह की नौकरी कभी स्वीकार ही न की। सिद्धराज जगदेव की वीरता से परिचित था। उसने जगदेव का संमान भी किया। किन्तु जगदेव को कुन्तलदेशाधिपति परमर्दी (कल्याणाधिपति चालुक्यराज विक्रमादित्य षष्ठ) का निमंत्रण मिल चुका था। इसलिये जगदेव वहीं चला गया। परमर्दी ने 'जगदेव' को किसी देश-विशेष का अधिपति बनाया, और परमर्दी के दरबार में रहके ही जगदेव ने अपनी दानवीरता की ख्याति विशेष रूप से प्राप्त की। राजस्थान में जगदेव और कंकाली की कथा प्रसिद्ध है। कंकाली सिद्धराज के दरबार में पहुँची। जगदेव को देखते ही उसने अपना मस्तक वस्त्र के अञ्चल से ढक लिया। इस कथा का बीज ऊपर उद्धृत प्रबन्धचिंतामणि की कथा में अनुसन्धेय है। इसी प्रकार जगदेव विषयक अन्य कथाएँ भी बीज रूप में हमें इतस्ततः मिलतीं हैं।[१०]

९. जगदेव ने कुन्तलेन्द्र के दरबार में जो ख्याति प्राप्त की उसका डोंगरग्राम के शिलालेख ने सामान्यतः इस प्रकार निर्देश किया है :[११]—

अर्थिप्रत्यर्थिनो यस्मिन् वा (बा) णैः स्वर्णैश्च वर्षति ।
दैन्यसैन्यनिधिं मुक्त्वा तेऽशङ्कितमुपासते ।।१।।
न स देशो न स ग्रामो न स लोको न सा सभा ।
न तन्नक्तं दिवं यत्र जगदेवो न गीयते ।।११।।

---

१०. उदाहरण के लिये देखें जयचन्द्र के दरबार में प्रच्छन्नरूप में पृथ्वीराज के पहुँचने पर कर्णाटी का व्यवहार। शायद ये दोनों कथाएँ किसी पुरानी कथा से ली गई हों।

११. 'एपिग्राफिया इण्डिका', खण्ड २६. पृष्ठ १८३-१८४।

"जगदेव जब अर्थियों (याचकों) और प्रत्यर्थियों (शत्रुओं) पर सुवर्णों (स्वर्ण मुद्राओं) और बाणों की वर्षा करता, तो अर्थी दैन्यसमुद्र का और प्रत्यर्थी सैन्यसमुद्र का परित्याग कर निश्शङ्क उसकी उपासना करते। न वह देश था, न वह ग्राम; न वह लोक था और न वह सभा; न वह रात्रि थी और न वह दिन जहाँ जगदेव (के यश) का गान न होता हो।"

१०. डोंगरगांव लेख में निर्दिष्ट अर्थियों पर जगदेव की इस कृपा के अनेक उदाहरण मिलते हैं। किन्तु प्रत्यर्थियों पर उसके दृढ़ प्रहार भी किसी समय कुछ कम प्रसिद्ध न थे। किसी कवि के शब्दों में जिस प्रकार 'समुद्र का गाम्भीर्य, पृथ्वी का विस्तार, आकाश की व्यापकता, मेरु की तुङ्गता, विष्णु की महिमा, कल्पवृक्ष की उदारता, गंगा की पवित्रता, और चन्द्रमा का अमृत-वर्षण, कोई नवीन वस्तु नहीं है, उसी तरह जगदेव की वीरता कुछ नई बात न थी। यह तो स्वभावसिद्ध थी। जगदेव की विजय तो अनेक रही होंगी। ये कब और किस समय हुईं यह पूर्णतया जानने के साधन तो हमारे पास नहीं हैं। किन्तु जगदेव के सेनापति दाहिमा लोलार्क के बिना तिथि वाले जयनद के शिलालेख से हमें इतना अवश्य ज्ञात है कि :—

(१) जगदेव ने आन्ध्राधीश को बुरी तरह हराया।

(२) उसने चक्रदुर्ग के स्वामी को पराजित कर उसे दण्ड में बहुत से मस्त हाथी देने के लिये विवश किया।

(३) उसके मस्त हाथियों की मार से शत्रुओं की हड्डियों के ढेर के ढेर दोर समुद्र में लग गये। मलहराधीश (होयसलराज) को इससे अत्यन्त दुःख हुआ।

(४) उसके धनुष की ध्वनि जयसिंह की विक्रम कथाओं के स्वाध्याय में संध्या-घनगर्जन रूपी विघ्न है।

(५) कर्ण नृपति ने इसका आश्रय ग्रहण किया।[१२]

११. जगदेव के ये वीर-कार्य दो विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं। इनमें पहले तीन, दक्षिण दिशा से सम्बन्ध रखते हैं, और अन्तिम दो उत्तर भारत से। दक्षिण की विजय उसने कुन्तलेन्द्र के सेनापति के रूप में प्राप्त की होगी। चालुक्यराज विक्रमादित्य षष्ठ साम्राज्याभिलाषी राजा था। उसने समस्त दक्षिणापथ में विजय का डंका बजाकर सन् १०७६ में एक नवीन सम्वत् चलाया। जगदेव और विक्रमादित्य एक दूसरे के अनुरूप थे। जगदेव ने विक्रमादित्य को स्वामी के रूप में स्वीकार किया, किन्तु विक्रमादित्य ने उसे अपना पुत्र मान कर।[१३] यही पारस्परिक भावना इन दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध का कारण बनी। विक्रमादित्य के जीवन के अन्तिम भाग में जब सामंत इधर उधर विद्रोह करने लगे,

---

१२. वही, खण्ड २२, पृ० ६०-६१।

१३. टिप्पण ७ देखें। प्रबन्धचिन्तामणि के उद्धरण से भी विक्रमादित्य की जगदेव के प्रति आत्मीयता स्पष्ट है।

केवल जगदेव पूर्ववत् स्वामिभक्त बना रहा[१४] उसने अनेक विद्रोही सामन्तों को पराजित किया, और स्पष्टतः यह सिद्ध किया कि वह चालुक्य साम्राज्य के शत्रुओं के लिए वास्तव में परशुराम है।[१५]

१२. आंध्रदेश कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच में स्थित है। जगदेव के समय इसकी राजधानी वेङ्गी थी, और इसका शासक कुलोतुंङ्ग चोल था। इसके राज्यकाल में चोल और वेङ्गी राज्य एक बन गये। विक्रमादित्य ने अपने साले अधिराजेन्द्र को चोल-सिंहासन पर बिठाया। कुलोत्तुंग इसे हटाकर स्वयं चोलदेश का शासक बना, और जब विक्रमादित्य ने उसपर आक्रमण किया तो उसने विक्रमादित्य के बड़े भाई चालुक्यराज सोमेश्वर को विक्रमादित्य पर आक्रमण करने के लिये उकसाया। विक्रमादित्य सोमेश्वर को हराकर स्वयं राजा बना और अनेक बार उसने वेंगी पर आक्रमण किये।[१६] सन् १११८ के लगभग विक्रमादित्य वेंगी पर अधिकार करने में सफल हुआ। सम्भवतः इसी विजय में उसे जगदेव से पूर्ण सहायता मिली होगी।

१३. चक्रदुर्ग बस्तर राज्यका चक्रकोट नाम का स्थान है। उस समय यहां नागवंशियों का अधिकार था। सन् १०७६ से कुछ पूर्व विक्रमादित्य ने चक्रदुर्ग के राजा को पराजित किया।[१७] जगदेव को फिर उस पर आक्रमण करना पड़ा, यह बताना कठिन है। किन्तु इस बार राजा को दण्ड में बहुत से मस्त हाथी देने पड़े।

१४. दोर समुद्र का शासक कुमार एरेयंग (सन् १०६३-११००) विक्रमादित्य का सामन्त था। सोमेश्वर के विरुद्ध इसने विक्रमादित्य की सहायता की। मालवे पर आक्रमण कर इसने धारा को जलाया। चोलों से उसने गंगावाडी को जीता। इसके तीन पुत्र थे। बल्लाल प्रथम, विष्णुवर्द्धन और उदयादित्य। बल्लाल ने सन् ११०४ के आसपास विक्रमादित्य के विरुद्ध विद्रोह किया। जगदेव इसे दण्ड देने के लिये नियत हुआ। स्वामी की आज्ञा का पालन करने के सिवाय जगदेव को यह कार्य दूसरे कारणों से भी रुचिकर रहा होगा। एरेयंग ने निर्दयता से धारा को लूटा था; जगदेव एरेयंग की राजधानी पर आक्रमण कर इसका बदला क्यों न ले? जयनद के शिलालेख में जगदेव की विजय का उल्लेख है। उसके हाथियों ने दोरसमुद्र में शत्रुओं की हड्डियों के ढेर के ढेर लगा दिये। किन्तु

---

१४. 'होयसल वंश' के लेखक विलियम Coelho और श्री कृष्ण शास्त्री का कथन इस विषय में पठनीय है। दोनों के मतानुसार विक्रमादित्य का प्रभाव पीछे से उतना न रहा जितना राज्यकाल के आरम्भ में था। जगदेव अपने स्वामी का सच्चा सेवक था और उसने अनेक विद्रोही सामन्तों पर आक्रमण किये। हम भी अनेक प्रमाणों के आधार पर इसी परिणाम पर पहुँचे हैं।

१५. देखें प्रबन्धचिन्तामणि में प्रयुक्त शब्दावलि, "प्रत्यक्ष-भार्गव भवानन्यस्य चिंतामणि" (पृ० ११५)।

१६. कुलोतुङ्ग (राजिग) और विक्रमादित्य के संघर्ष के लिये विक्रमाङ्कदेवचरित, सर्ग ६ देखें।

१७. देखें विक्रमाङ्कदेव चरित, सर्ग चतुर्थ, श्लोक ३०.

होयसल शिलालेखों में दोर समुद्र की विजय जगदेव की नहीं अपितु बल्लालप्रथम की मानी गई है। सन् ११९६ के एक शिलालेख में लिखा है, बल्लाल ने युद्ध में अपने पर आक्रमण करने वाली सेना को ऐसा पीछे हटाया कि मालवाधीश जगदेव (जिसके मस्त हाथी को उसने चिघड़वा दिया था।) कह उठा, "धन्य है घुड़सवार, धन्य है।" इसका उत्तर बल्लाल ने दिया, "मैं केवल घुड़सवार ही नहीं, मै वीर बल्लाल हूं[१८]" और शत्रुसंहार द्वारा उसने जगत् को चकित कर दिया।" इसी तरह श्रवण बेलगोल्ल के सन् १०५९ के शिलालेख में लिखा है, "चक्री (विक्रमादित्य) द्वारा प्रेषित मालवराज जगदेव के सैन्य रूपी समुद्र को...विष्णु (विष्णु बर्द्धन) सहसा पी गया।"[१९] सन् ११६१, १११७, और ११६४ के शिलालेखों में इसी प्रकार बल्लाल और विष्णुवर्द्धन की विजय का उल्लेख है[२०]। सन् १११७ के लेख में जो इन सब में प्राचीन है, विष्णु वर्द्धन और बल्लाल की विजय का वर्णन इस प्रकार से है:—"दोर-समुद्र में उन्होंने जगदेव की सेन्य को पराजित किया, सिन्दूर के स्थान पर हाथियों के रक्त से उन्होंने विजय श्री को रञ्जित किया, और उसकी नायकमणि के साथ-साथ उसके कोष पर अधिकार कर लिया।"[२१]

१५. इन परस्पर विरोधी प्रमाणों के आधार पर दोरसमुद्र में जगदेव की जय या पराजय के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। किन्तु उसके शौर्य के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। सच्चा शूर वह है जो शत्रु के शौर्य की भी क़द्र करे। यह गुण जगदेव में वर्तमान था।

१६. ऊपर दिये हुए प्रबन्धचितामणि के उद्वरण में जिस सीमान्तभूपाल पर जगदेव के आक्रमण का वर्णन है, वह सम्भवतः यही दोरसमुद्र का राजा बल्लाल है। प्रबन्धचितामणि का पाठ सीमालभूपाल या श्रीमालभूपाल है, जिसका कुछ खींचतान से सीमांत भूपाल अर्थ किया जा सकता है। वास्तव में 'मलह' होयसल वंश की जाति रही होगी[२२]। जयनद के शिलालेख में दोरसमुद्र के शासक के लिये मलह-क्षोणीश यानि मलह का राजा शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रबन्धचिन्तामणि की संस्कृत में श्री मलहभूपाल का श्री मालभूपाल परिवर्तित होना बड़ी बात नहीं है।। इस श्री मलहभूपाल ने जगदेव की सेना को पराजित कर दिया, किन्तु अन्त में जगदेव के निजी शोर्य के कारण विजय श्री उसके हाथ रही। सम्भवतः इसी रूप से हम जयनद के शिलालेख, होयसल शिलालेखों, और प्रबन्धचिन्तामणि के

---

१८. एपिग्राफिया कर्नाटिका, खण्ड ६, तरिकेरे तालुक, संख्या ४५। 'होयसल वंश' के लेखक विलियम कोएल्होने इस जगदेव को सांतरा का राजा मानने की भूलकी है। प्रोफेसर कोएल्होने जगदेव के लिये प्रयुक्त 'मालवाधीश' शब्द पर ध्यान नहीं दिया।

१९. वही, खण्ड २, श्रवणबेलगोल्ल के शिलालेख, (नवीनसंस्करण), नं० २४९, पृ० १६८.

२०. वही खण्ड ५, Bl No. ५८, Hn, No. ११६, Bl, No. १९३

२१. वही, Bl, No. 58

२२. यही 'एपिग्राफिया इण्डिका', खण्ड २२, के विद्वान् सम्पादक का मत है।

वर्णन की परस्पर संगति बैठा सकते हैं[२३]। विष्णु वर्द्धनका अन्त तक अपने लिये 'महा-मण्डलेश्वर' पदवीका प्रयुक्त करना उसकी कमसे कम आंशिक हार का द्योतक है।

१७. जगदेव दक्षिण अवश्य चला गया, किन्तु वह स्वदेश को न भूला। नरवर्मा के राज्यकाल में मालवे की उर्वराभूमि पर विपत्ति के बादल मंडराने लगे। अजमेर के स्वामी अर्णोराज ने नरवर्मा को पराजित किया। पश्चिम से सिद्धराज जयसिंह ने मालवे पर अपनी चढ़ाइयां शुरू कीं। चन्देलों ने भी संभवतः मालवे की कुछ भूमि पर अधिकार कर लिया। इधर उधर के अन्य राजा भी मालवे पर आक्रमण करने में न चूके होंगे। जगदेव किसी ऐसे विपत्तिकाल के समय ही कुछ समय के लिये मालवे आया होगा।

जयनद शिलालेख के दसवें श्लोक में जयसिंह की पराजय का निम्नलिखित वर्णन है:—

आश्चर्यं जयसिंह विक्रमकथा स्वाध्यायस (सं)ध्याघन-
ध्वानं यस्यधनुर्द्ध (र्द्धव) नि नरपते र्व्यञ्जान्ति विस्तरिणः;
अद्याप्यर्बुद पर्व्वतो दरदरी द्वारेषु रात्रिंदिवं–
क्रन्दद्गूर्ज्जरवीरवर्गवनितावाष्पाम्बु (म्बु) पूरोर्म्मय : ॥

इससे स्पष्ट है कि जयनद के शिलालेख के उत्कीर्ण होने से पूर्व जगदेव और जयसिंह परस्पर विरोधी बन चुके थे। जगदेव की धनुष की टंकार अब जयसिंह की विक्रम-कथा के लिये संध्याघन के गर्जन के समान थी। साथही यह भी स्पष्ट है कि जगदेव और जयसिंह का यह संग्राम कहीं आबूपहाड़ के आसपास हुआ होगा। उसकी घाटियों के द्वारों पर रोती हुई गूर्जर वीरों की स्त्रियों के आंसुओं से मानों बाढ़-सी आगई थी।

१८. शिलालेख के सम्पादक श्री धीरेन्द्रचन्द्र गांगुली के मतानुसार इस श्लोक में वर्णित जयसिंह भोज का पुत्र जयसिंह परमार है। यही मत डॉक्टर श्री देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर का है। किन्तु श्लोक से स्पष्ट है कि यह जयसिंह वास्तव में गूर्जर राज जयसिंह रहा होगा। परमार जयसिंह का राज्य तो जगदेव के पिता उदयादित्य के भी गद्दी पर बैठने से पूर्व समाप्त हो चुका था। गूर्जर राज जयसिंह सिद्धराज की प्रबल इच्छा थी कि वह मालवे को हस्तगत करे। आबू भी परमारों के अधिकार में था। यह सम्भव है कि आबू के परमार ने अपने मालवे के भाइयों का साथ दिया हो, और इसी कारण से सिद्धराज जयसिंह को आबू पर आक्रमण करना पड़ा हो। जगदेव की विजय कुछ समय तक ही परमारों पर आई हुई आफत को टाल सकी। नरवर्मा और शायद जगदेव की मृत्यु के बाद सन् ११३७ के आस पास जयसिंह ने मालवे पर अधिकार कर लिया। आबू ने भी चौलुक्यों की आधीनता स्वीकार की।

---

२३. विष्णुवर्द्धन सन् १११७ में विक्रमादित्य षष्ठ से मिलने गया। इसी समय सम्भवतः उसने अपनी आधीनता सूचित की होगी। विष्णुवर्द्धन अपने को अंत तक महामण्ड-लेश्वर और चालुक्यराज के चरणकमल का निवासी कहता रहा। इससे स्पष्ट है कि या तो जगदेव ने या विक्रमादित्य के अन्य किसी सामन्त ने विष्णुवर्द्धन को हराया। जयनद के शिलालेख के आधार पर हम यह श्रेय जगदेव को दे सकते हैं।

१९. जिस कर्ण राजाने जगदेव का आश्रय ग्रहण किया, वह कौन था, यह भी विवेच्य है, ईस्वी सन् की बारहवीं शताब्दी के आस-पास ये कर्ण वर्तमान थे, चेदिराज लक्ष्मीकर्ण (लगभग १०४१-१०७३ ई०), उसका पुत्र यशःकर्ण (लगभग १०७३-११२५ ई०) और गूर्जर राज कर्ण (१०६४-१०९४)। इनमें से चेदिराज लक्ष्मी कर्ण भोज का प्रतिद्वंदी था। जगदेव के युवावस्था में पहुँचने से पूर्व ही सम्भवतः वह मर चुका था। श्री धीरेन्द्रनाथ गांगुली गूर्जर राज कर्ण को जगदेव का विरोधी मानते हैं। यह असम्भव नहीं है। शायद उदयादित्य के हाथों अपनी पराजय का बदला लेने के लिये उसने मालवे पर आक्रमण किया हो, किन्तु सन् १०९४ के आस पास तक जगदेव का बड़ा भाई लक्ष्मणदेव मालवे का राजा था। उसने बंगाल, बिहार, उड़ीसा, चेदि आदि अनेक राज्यों पर आक्रमण किया। यदि सन् १९०४ तक (जो लक्ष्मणदेव और कर्ण दोनों ही का ही सम्भवतः अन्तिम राज्यवर्ष था), जगदेव ने चौलुक्यराज कर्ण को लक्ष्मदेव के सेनानी के रूप में पराजित किया होता तो ई० स० ११०४ के नरवर्मा के नागपुर-शिलालेख में यह विजय अवश्य उल्लिखित होती। इसलिये क्या यह मानना ठीक न होगा कि यह कर्ण वास्तव में चेदिराज यशः कर्ण है। यशः कर्ण को विक्रमादित्य ने सन् १०८१ ई० से पूर्व हराया। लक्ष्मणदेव ने भी त्रिपुरी का विध्वंस इसी राजा को हराकर किया होगा। जगदेव इन दोनों में से किसी एक का सेनापति होकर यशः कर्ण पर आक्रमण कर सकता था। किन्तु कुन्तल की तरफ से उसके आक्रमण की सम्भावना कम है। वह विक्रमादित्य का सेनापति और सामन्त था अवश्य, किन्तु सन् १०८१ तक न जगदेव के पिता की मृत्यु ही हुई थी, और न जगदेव ने विदेश के लिये प्रयाण ही किया था। इसलिये अधिक सम्भव यही है कि जगदेव ने लक्ष्मदेव के सेनानी के रूप में कर्ण को हराया और उसे अपनी शरण में आने के लिये बाध्य किया। मालवा छोड़ने से पूर्व जगदेव अपने शौर्य के लिये प्रसिद्ध हो चुका था। यह ख्याति सम्भवतः उसे लक्ष्मदेव-कालीन विजयों से मिली होगी।[२४]

२०. जगदेव मालवे का राजा कभी न हुआ। किन्तु जैसा प्रबन्धचिन्तामणिकार ने लिखा है वह विदेश में भी परमर्दी विक्रमादित्य षष्ठ की कृपा से एक देश का अधिपति था। इस देशविशेष का कुछ ज्ञान हमें डोंगरगांव और जयनद के शिलालेखों से मिलता है। डोंगरगांव बरार के यवतमाल ज़िले का एक गांव है। इसके एक जीर्णशीर्ण मन्दिर के गर्भगृह से जगदेव का एक शिलालेख मिला है, जिसमें जगदेव के पूर्वजों की और स्वयं जगदेव की प्रशस्ति के अतिरिक्त इस बात का भी उल्लेख है कि जगदेव ने डोंगरग्राम, श्री निवास नाम के एक विद्वान् ब्राह्मण को दान में दिया। इससे यह स्पष्ट है कि विक्रमादित्य से यवतमाल के आस पास का प्रदेश जगदेव को जागीर में प्राप्त हुआ। किसी समय यह प्रदेश परमारों के राज्य के अंतर्गत था; किन्तु सन् १०८७ से कुछ पूर्व विक्रमादित्य षष्ठ ने इसे जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। जयनद डोंगरगांव से लगभग ठीक ६५ मील पूर्व में है और इस समय यह हैदराबाद राज्य के अंतर्गत है। इससे अनुमान किया जा

२४. के० वी० सुब्रह्मण्य की सम्मति है कि जगदेव ने सन् १११७ में काकतीय राजा प्रोल द्वितीय को भी पराजित किया। यह ठीक हो तो जगदेव की ज्ञात विजयों की संख्या और बढ़ जाती है।

सकता है कि जगदेव की जागीर काफ़ी बड़ी रही होगी। बरार का अधिकांश और हैदराबाद का कुछ उत्तरी भाग इस जागीर के अंतर्गत था।

२१. जयनद के शिलालेख से हमें इसके अश्वसेना नायक दाहिमा जातीय लोलार्क का नाम मिलता है। उसका पिता गुणराज उदयादित्य का सेनानी था। कई विद्वानों का अनुमान है कि पूर्व बंगाल के राजा सामलवर्मा की मुख्य रानी, मालव्यदेवी, जगदेव परमार की पुत्री थी।

२२. दन्तकथाओं के अनुसार जगदेव रंग का सांवला होने पर भी अत्यन्त सुन्दर था। इस कथन की परिपुष्टि के लिये परमार राजा अर्जुनवर्मा की रसिक संजीवनी टीका से यह उद्धरण दिया जा सकता है:—

> यथास्मत्-पूर्वजरूपवर्णने नाचिराजस्य—
> सत्रासाइव सालसा इव लसद्ग्वी इवार्द्रा इव
> व्याजिह्म इव लज्जिता इव परिभ्रान्ता इवार्ता श्व।
> त्वद्रूपे निपतन्ति कुत्रन जगदेव प्रभो सुभ्रुवा
> वाता वर्तन नर्तितोत्पलदल द्रोणी द्रुहो दृष्टयः ।।

नाचिराज के वर्णन में सम्भव है कुछ अत्युक्ति हो: किन्तु यह निराधार प्रतीत नहीं होता।

२३. शिलालेखादि के आधार पर दिया हुआ यह जगदेव का चरित सर्वांगपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस अपूर्व वीर के जीवन में अन्य अनेक घटनाएँ हुई होंगी, जिनके विषय में शिलालेख मौन हैं। किन्तु जो कुछ भी हमें मिल सका है, वह अनेक भ्रांतियों को दूर करने और जगदेव के वास्तविक जीवन को समझने के लिये पर्याप्त है। कथाओं का जगदेव मुख्यतः दानवीर है। इतिहास का वास्तविक जगदेव उससे कम नहीं उतरता। त्वष्टा के चक्र पर चढ़े सूर्य की तरह, ऐतिहासिक कसौटी पर कसे हुये जगदेव का यश उज्ज्वलतर ही प्रतीत होता है। इतिहास का जगदेव दानवीर ही नहीं, त्रिविध वीर है। दान में वह बलि और दधीचि का समकक्ष, शौर्य में जगदेव वीर, और धर्मनिष्ठ में अद्वितीय है। जगदेव वास्तव में जगदेव है।[२५]

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन में एक प्रश्न तो उक्त निबंध के विद्वान लेखक के लिए पैदा होता है कि वे निष्कर्ष में कहते हैं कि 'जगदेव मालवे का राजा कभी नहीं हुआ' किन्तु दौर समुद्र के सन् ११६६ के शिलालेख में उसे 'मालवाधीश' तथा श्रवणबेलगोल्ल के सन १०५६ के शिलालेख में उसे 'मालवराज' कहा गया है? ऐसा क्यों हुआ है? क्या जो व्यक्ति राजा नहीं उसे इस प्रकार 'अधीश' या 'राज' कहकर संबोधित करने की कोई प्रथा मिलती है? इस प्रश्न का संतोषजनक समाधान होना आवश्यक है। 'लोक कथाओं' में जगदेव के मालवा लौटने की घटना का उल्लेख है, उसके अनंतर वहीं रहने और राज्य

२५. शारङ्गधर पद्धति के श्लोक १२६१ में इसी जगदेव की दानवीरता का वर्णन है। जायसी ने भी पद्मावत में इसे एक महान् वीर के रूप में स्मरण किया है।

करने का भी किसी किसी कहानी में वर्णन है। विद्वान लेखक ने भी परिच्छेद संख्या १७ में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि जगदेव मालवे गया होगा, विशेष संकटकाल में। प्रश्न केवल काल विषयक है। कुछ काल के लिए गया या सदा के लिए ? यह विषय भी अभी और अनुसंधान चाहता है। जिन शिलालेखों में जगदेव को मालवेश या मालवराज कहा गया है, हो सकता है कि वे उसके मालवा पहुँचने के उपरांत के पराक्रमों से संबंधित हों। यद्यपि इन दोनों शिलालेखों में यदि ठीक सन दिये गये हैं तो (सन ११९६—सन१०५९) १३७ वर्षों का अन्तर है, जो हमारे सुझाव को स्वीकार करने में बाधक है। अवश्य ही इस संबंध में विशेष अनुसंधान अपेक्षित है।

दूसरी बात हमें यह आकर्षित करती है कि मेरुतुंग ने लिखा है कि "सिद्धराज द्वारा खूब सम्मानित होने पर भी जब उसके·········आदि (दे० ७वां पैरा) इसमें "सिद्धराज द्वारा खूब सम्मानित" होने के क्या अर्थ हैं ? यह किस प्रकार का सम्मान हो सकता है। इससे यह तो सिद्ध ही होता है कि जगदेव सिद्धराज के यहाँ गया था। वह उसके यहाँ ठहरा नहीं, इसे भी लोककथा मानती है। कितने काल तक वह सिद्धराज के यहाँ रहा इसका उल्लेख मेरुतुंग ने भी नहीं किया, किन्तु वर्णन प्रणाली से विदित होता है कि जगदेव वहाँ दीर्घकाल तक नहीं रहा, और वहाँ उसने कोई पुरुषार्थ भी नहीं दिखाया। किन्तु जितने काल तक रहा वह सम्मानित किया गया—निश्चय ही जब वह कुंतलेश्वर का भृत्य हो सकता था तो सिद्धराज का भी हो सकता था। बहुत संभव है कि वह सम्मान के साथ सिद्धराज का भी भृत्य रहा हो, और किसी कारणवश, हो सकता है वह कारण कुन्तलेश्वर का विशेष आग्रह ही रहा हो, वह सिद्धराज की नौकरी छोड़कर कुन्तल-देश में चला गया हो। अतः संभवत यह कहना पूर्णतः समीचीन नहीं होगा कि 'शायद उसने सिद्धराज जयसिंह की नौकरी कभी स्वीकार ही न की।' इस सबंध में एक दूसरे प्रसिद्ध इतिहासकार के ये शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं :—

"राजा भोजदेव के अन्तिम काल में अस्तंगत परमार-वैभव तथा वैक्रम सूर्य उदयादित्य के शासनकाल में पुनः ज्योतिर्मान हो उठा। इनके तीन पुत्रों—लक्ष्मणदेव, नरवर्मदेव, जगदेव में, जगदेव परमार चालुक्य वंशीय सिद्धराज जयसिंह के सेवा पाते रहे·········" विक्रम स्मृति ग्रंथ—निबंधः मालवे के परमार—पवार। लेखक श्री चिंतामणि बलवंत लेले। पृ० ५९३

जगदेव के पूर्वज—

जगदेव के पूर्वजों का एक उल्लेख मथुरा के पंवारे में यों दिया हुआ है

राजा उंज भये,
उंज के कुंज भये,
कुंज के पालदे पंवार भए
पालदे पंवार के उदैयाजीत भए
उदैयाजीत के राजा जगदेव भए

इसमें जगदेव की पांच पीढ़ियों का उल्लेख है ।

राजा उंज
|
कुंज
|
पालदेव पंवार
|
उदेयाजीत
|
जगदेव

इतिहास में उनकी ये पीढ़ियां हैं ।

उपेन्द्रराज अथवा कृष्णमराज
|
वैरिसिंह प्रथम
|
सीयक प्रथम
|
वाक्पतिराज प्रथम
|
वैरिसिंह द्वितीय
|
सीयक द्वितीय
|
वाक्पति राज मुंज
|
सिंधुराज (सिंधुल)
|
राजा भोज

ऐतिहासिक वंशावली को राजाओं के विरुद आदि के साथ यों दिया जा सकता है ।

उपेन्द्रराज कृष्णमराज
|
वैरिसिंह प्रथम
|
सीयक प्रथम
|
वाक्पतिराज प्रथम = अजयराज
|
वैरसिंह द्वितीय = वज्रट
|
सीयक द्वितीय = हर्षदेव = सिंहदत्त भट्ट
|
कुंज = कुमार नारायण = नवसाहसांक = सिंधुराज — मुंज = उत्पलराज, अमोघवर्ष, श्रीवल्लभ, पृथ्वीवल्लभ

(कुंज की संतान)
|
विक्रम श्रीवल्लभ—पृथ्वीवल्लभ—त्रिविध वीर चूड़ामणि
भोजदेव
|
जयसिंह
|
अखिलमंथन = उदयादित्य
|
लक्ष्मणदेव — नरवर्मदेव — जगदेव

ऐतिहासिकों द्वारा प्रस्तुत इस राजवंशावली से व्रज की वंशावली की तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि केवल उदैयाजीत अथवा उदयादित्य और जगदेव को छोड़ सभी कल्पित हैं। किन्तु इसका निराकरण तब होता है जब हमें इतिहासकार ही यह बताते हैं कि सिन्धुराज का नाम 'कुंज' भी था। श्री चिन्तामणि बलवंत लेले ने लिखा है कि 'इनका कुंज नाम कुंज सागर अभिधान से आज भी अक्षुण्ण है' [विक्रम-स्मृति-ग्रंथ पृ० ५९१]। अतः यह तीसरा नाम भी ऐतिहासिक सिद्ध हुआ। राज्यारोहण की दृष्टि से इस ऐतिहासिक वंशावली की ६ पीढ़ियों का रूप यह हुआ।

मुंज	उंज
कुंज	कुंज
भोजदेव	पालदे पंवार
जयसिंह	
उदयादित्य	उदैयाजीत
जगदेव	जगदेव

अब व्रज की लोक वंशावली का उंज मुंज हो सकता है। अथवा यह भी संभव है सीयक द्वितीय का ही नाम 'उंज' रहा हो। भोजदेव संभवतः पालदे (व) पंवार हो गये हैं। जयसिंह ने वस्तुतः राज्य किया या नहीं यह किंचित विवादास्पद भी हैं। ये इतने लोकप्रिय न हुए हों। अतः लोक-मानस ने पालदे या भोजदेव के बाद उदयादित्य का ही नाम स्मरण रखा। इस प्रकार लोक वंशावली आश्चर्यजनक रूप से ऐतिहासिक वंशावली से मेल खाती है।

परमार वंश की कुछ ख्यातियाँ—

परमार वंश के जो संक्षिप्त विवरण कुछ इतिहासकारों ने प्रस्तुत किये हैं उनमें कुछ ऐसी बातें हैं जो जगदेव के लोक-वृत्त में मिलती हैं। उन्हीं का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

१. भोज के भाई राजा उदयादित्य के अनेक पुत्र थे। किन्तु अपने मनोनुकूल पुत्र की इच्छा से उसने भगवान् शिव की आराधना की इसके फलस्वरूप उसके जगदेव नाम का पुत्र हुआ।[१]　　(डोंगर गाव का लेख)—

२. सीयक द्वितीय (सिंहराज तथा सिंह भट्ट) के जीवन के प्रारंभिक भाग में पुत्र नहीं था, अतः मुञ्ज घास में एक बालक पड़ा मिला। उसे उन्होंने अपना पुत्र बना

१. इसी में उस पूर्व कथा का मूल है जिसमें उदयादित्य ने फकीर को प्रसन्न कर पुत्र-जन्म का वरदान पाया।

२. भोज जब पैदा हुआ तब उसका पिता कारावास में था, इससे उस कल्पना को प्रोत्साहन मिला जिसमें उदयादित्य के किसी राजा के यहाँ बंदी होने का उल्लेख है।

लिया, और मुञ्ज नाम रखा। उसके कुछ दिनों बाद उनके पुत्र हुआ जिसका नाम सिंधुल रखा। सीयक ने मुञ्ज को राज्य दिया। सिंधुल को कारावास में भी रहना पड़ा। निर्वासन में इधर-उधर भटकता भी फिरा,[३] और पुनः लौट कर धारा आने पर राज्य भी उसे मिला।[४]

३. सिंधुल के नागकन्या मृगावती से दो पुत्र शुभचन्द्र तथा भर्तृहरि हुए। इनके बाद सिंधुल कारागार में था तो पुत्र भोज हुआ। यह भोज ही सिंधुल का उत्तराधिकारी हुआ।

४. भोज का पालन मुंज ने किया। ज्योतिषी की भविष्य वाणी के कारण मुंज ने भोज को मरवा डालना चाहा, पर भोज ने एक उक्ति से मुंज को चेताया, और अपनी प्राण रक्षा भी की।[५]

५. भोज को अपने पिता की मृत्यु का बदला लेना था, अनहिलवाड़ के भीम चौलुक्य से। पितृव्य मुञ्ज के वध का बदला तैलप से लेना था।[६]

६. भोज भी भीम की सेनाओं द्वारा बंदी बनाया गया, और छोड़ दिया गया।

७. "भोज की सभा को देखने भीम चौलुक्य छिपकर गया, अपने मंत्री डामर के साथ। अपने स्वामी की प्रशंसा करते हुए डामर ने अपनी वक्रोक्ति का भोज को लक्ष्य बनाया। उसी समय पहचाने जाने की आशंका से भीम राज-सभा से खिसक गया। इसके पश्चात् अपने स्वामी को बचाने के लिए भोज का ध्यान दक्षिण की ओर आकृष्ट करते हुए जहाँ मुञ्ज की मृत्यु का प्रतिशोध लिया जाना शेष था, डामर ने दूसरा व्यंग्योक्ति का प्रहार किया। इस प्रकार चौलुक्य के विरुद्ध आक्रमण हुआ।[६]" (मालवमणि भोज—विक्रम स्मृति ग्रंथ—पृ० ५८४ अनन्त वामन वाकणकर)

८. भोज त्रिविधि-वीर चूड़ामणि कहलाते थे।[७] (वि० स्मृति ग्रंथ पृ० ५६।

यह जगदेव की सामान्य ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि है। इसमें जगदेव मालवा लौटा और राजा हुआ, यह बात विशेष संदिग्ध रहती है, क्योंकि मालवा की राज परम्परा में जगदेव का नाम नहीं आता। कुछ विद्वान जैसे डा० गांगुली जगदेव को 'लक्ष्मणदेव' ही मानते हैं। कुछ जगदेव को लक्ष्मणदेव, नरवर्मदेव के साथ तीसरा पुत्र मानते हैं। डोंगर गांव के शिलालेख से अन्तिम मत की कुछ पुष्टि होती है।

---

३. एक भाई के गद्दी पर बैठने पर दूसरा भाई निर्वासित अवस्था में जहाँ-तहाँ फाके करता फिरता था, या योगी हो जाता था, यह परंपरा भी मिलती है।

४. जगदेव लौटा और राजा बनाया गया। यह सिंधुल के चरित्र के मेल से सुझाव मिला है।

५. ज्योतिषी का भय, जगदेव में उसके बाहुबल का भय बन गया प्रतीत होता है।

६. पिता या पितृव्य का बदला लेने का भाव भोज के वृत्त में है। उसे डामर ने स्मरण दिलाया है। जगदेव को भी ऐसा ही स्मरण दिलाया गया है, किन्तु यहां पिता केवल बंदी है।

७. जगदेव भी त्रिविध वीर था।

ब्रज का लोकगीत तथा उसका गायक

ब्रज का बड़ा लोकगीत बारह मवासों का उल्लेख करता है, जिनमें कुछ अद्भुत नाम हैं तिन, इकमन, दिलफांक आदि। जगदेव की कितनी ही साहसिक युद्धों और विजयों का उल्लेख इतिहास से सिद्ध हुआ है। पर अभी और भी ऐतिहासिक शोध की अपेक्षा है।

उसकी दानवीरता का उल्लेख मेरुतुंग तथा अन्य प्रबन्धों में मिलता है, जिसका चरमोत्कर्ष 'शीश दान' में हुआ।

ब्रज के गीत में जो जगदेव का वंशवृक्ष दिया है वह बहुत कुछ इतिहास से मिलता है, अतः यह संभावना होती है कि उसके अन्य उल्लेखों में कोई न कोई सत्य होगा जिसकी खोज अपेक्षित है। किन्तु अभी हमारे पास उसके पूरे अनुसंधान के साधन नहीं।

नेंकसा—ब्रज के गीत के लोहबन वाले पाठ का गायक नेंकसा है। यह देवी का भगत है और 'जगदेव' का गीत देवी के जागरण में ही प्रधानतः गाता है। इसके जिस दल ने यह गीत हमारे समक्ष गाया उसका परिचय इस प्रकार है:—

नेंकसा—स्वामी १६ वर्ष की अवस्था में गुरु से 'रुक्मिणी मंगल सीखा'

२. पतिराम }
३. मंगला } गायक
४. चोजी }

५. इंदुरा : खेलने वाला, बाने वाला।

ये नगरकोट की देवी के भगत हैं। बंगाल की कालीं के भी उपासक हैं। नेंकसा के गुरु बेनीराम [१९००-१९४० स्थिति काल] फूलपुर (जिला मथुरा) से सीखकर आये थे। फूलपुर के पूसाराम से इन्होंने सीखा।

नेंकसा देवी के जागरण का आरम्भ इस मंत्र से करता है—

सुरख बांधू
सीसार बांधू
और आगें लटा बांधूं
मोर बांधूं
खोर बांधू
बनी की सिंध बांधू
हात बांधूं
पांइ बांधू
औरु चारौ अंग बांधूं
घात बांधू
पमन बांधूं
दुहाई पीर पैगम्बर की
दुहाई मात पितन की
दुहाई गोरखनाथ की
कहना मेरा दुआ फकीर की

उसनूं तो जुसनू कैसा लागै
जैसे तीर कमान
सोते कूं जगाता
बैठे कूं उठाता
दिल काटि करेजी मंगाता ।

जागरण में—

१. माता जी के भजन
२. जगदेव
३. अहिरामन लीला
४. मोरंग दाने की लड़ाई
५. देवी के माहिले आदि ये लोग गाते हैं ।

देवी के जागरण अनुष्ठान में जिस सामग्री का ये उपयोग करते हैं वह यह है—

१. चंदोवा (या देवी का पट)
२. बानौ-जनेऊ, पेटी
३. नेवर
४. झांझ
५. गजा
६. झूमरा (लोहे का कोड़ा)
७. देवी की मूर्ति

पूजा की सामग्री यह काम में लाते हैं—लौंग, धूप, बताशे, लड्डुआ (मोतीचूर के) प्रेत के पेड़ा, लोंग देवी के लिए, गिरी, मेवा, काली के लिए जायफल, धार (सुरा) देवी के लिए, सिंदूर ।

जगदेव और देवी-पूजन—जगदेव की लोक-कथा का देवी से घनिष्ठ सम्बन्ध है, यद्यपि इतिहास इस सम्बन्ध में मौन है । जगदेव देवी का भक्त रहा होगा. तभी उसे शक्ति अथवा देवी के भगतों ने इस प्रकार प्रमुख स्थान दिया है ।

टिप्पणी—१

आगरा नगर की बोलियों का स्वरूपाश्रित सर्वेक्षण

प्रस्तुत प्रबन्ध के लिए सामग्री संकलित करने में प्रत्येक घर का नमूना नहीं लिया गया है। यह सर्वेक्षण स्वरूपाश्रित सर्वेक्षण (Sample Survey) है। इसमें एक एक मुहल्ले का निरीक्षण करके चुने हुए व्यक्तियों की बोली नमूना लिया गया है। आगरे के समस्त मुहल्लों के कुल मिलाकर लगभग २५० नमूने हैं जिनमें से कायस्थ, ब्राह्मण, भाँड़ोरिए, वैश्य, ठाकुर, काछी, जाटव, मेहतर, कुम्हार, पटुए, कोली, मुसलमान, कंजड़, ईसाई, बेड़िए, ठठेरे, पंजाबी, आदिवासी, खुरपल्टे और हाबूड़े, पहाड़ी सूचक हैं। पेशे की दृष्टि से १०% दुकानदार, १५% नौकरी वाले, ५०% मजदूर, १५% स्त्रियाँ, और शेष बच्चे हैं। उम्र के विचार से २५ सूचक, १६ वर्ष से नीचें; ५०, १६ से २५ तक, ८०, २५ से ४० तक और १०५, ४० से ऊपर उम्र के लोगों के नमूने हैं। शिक्षा की दृष्टि से १५० अशिक्षित, ६० अर्धशिक्षित, ४० शिक्षित वर्गों के व्यक्तियों के नमूने हैं। आर्थिक स्तर के विचार से यही नमूने १८० निम्नस्तर, ४० मध्यमस्तर ३० उच्चस्तर के व्यक्तियों के बैठते हैं। स्थानीय निवास की अवधि की दृष्टि से इन सूचकों में से १६० जन्म से, ४० बीस साल से कम से, और ५० बीस साल से अधिक रह रहे हैं। भिन्न भिन्न वार्डों में इन नमूनों का विभाजन इस प्रकार है: छत्ता वार्ड से ५७, ताजगंज वार्ड से ३४, रकाबगंज वार्ड से ८४, कैण्टूमेंट बार्ड से ५, लोहामण्डी से २५, कोतवाली वार्ड से १५, हरी पर्वत वार्ड से २१। ब्रजभाषा, खड़ी, ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली अथवा खड़ीबोली मिश्रित ब्रजभाषा का विभाजन इन नमूनों में इस प्रकार किया जा सकता है; ३०% शुद्ध ब्रजभाषा के, ४०% शुद्ध खड़ीबोली के, ३०% ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली के।[1]

सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि आगरे में कोई ही ऐसा व्यक्ति होगा जो केवल ब्रजभाषा का व्यवहार करता हो। अर्थात् प्रत्येक ब्रजभाषा बोलने वाला व्यक्ति समया-

१. सामूहिक रूप में लिए गए नमूनों में भिन्न उम्र, शिक्षा, सामाजिक स्तर, निवास की अवधि जाति आदि सभी के नमूने आ गये हैं, इस कारण यह वर्गीकरण बिल्कुल सही नही हो सकते, अनुमानित तथ्यों के मिश्रण से कुछ अन्तर पड़ सकता है।

नुसार खड़ी बोली का व्यवहार करता है। जो अपने घरों में हर समय ब्रजभाषा ही बोलते रहते हैं वे भी बाजार में पहुँच कर अथवा खड़ी बोली के वक्ता के सम्मुख ब्रज-भाषा छोड़कर खड़ीबोली बोलने लग जाते हैं। यह बात जहाँ बुड्ढों के लिए सच है वहाँ बच्चों के लिए भी सच है। ब्रजभाषा बोलने वाले परिवारो में बच्चे प्राय: खड़ी बोली सीखते जा रहे हैं।

बोली के परिवर्तन की यह बात ब्रजभाषा भाषी औरतों के लिए सच नहीं है। इसका मुख्य कारण उनकी सम्पर्क हीनता ही है। अधिकांश अशिक्षित लेकिन मध्यम स्तर परिवार की औरतें बाजार आदि में नहीं जाया करती हैं अतएव उन्हें अन्य व्यक्तियों से वार्तालाप करने के अवसर कम ही मिल पाते हैं, इस प्रकार उनकी बोली एक प्रकार से अछूती ही बनी रहती है। लेकिन विशेष खोज बीन करने से ज्ञात हुआ कि नई पीढ़ी की औरतों में भी खड़ी बोली के प्रति आदर और प्रेम की भावना विद्यमान है। इन अशिक्षित और निर्धन परिवारों की औरतों को भाषा और वय के आधार पर दो वर्गों में रख सकते हैं; (१) ३० वर्ष से कम की और ३० वर्ष से अधिक की। खड़ी बोली के प्रति प्रेम की प्रवृत्ति विशेष कर ३० वर्ष से कम उम्र की औरतों में पाई जाती है। वे ही मुख्य रूप से अपनी बोली के विषय में सचेत हैं; ३० वर्ष से अधिक और विशेषकर ४० वर्ष से अधिक उम्र की औरतों प्राय: अपनी बोली के विषय में अचेत ही रहती हैं।

३० वर्ष से कम आयु की औरतों में खड़ी बोली के प्रति प्रेम और झुकाव के लक्षण निम्न रूपों में मिलते हैं :

(१) यह पूछने पर कि वे शहर वालों की तरह बोलती हैं अथवा गाँव वालों की तरह उनका जवाब होगा—शहर वालों की तरह। हो सकता है इससे उनकी शहर से प्रेम की प्रवृत्ति झलकती हो —बोली के प्रति प्रेम की प्रवृत्ति नहीं। लेकिन इसकी पुष्टि आगे हो जायगी।

(२) यह पूछने पर कि वे "बु चौं न आओ" कहेंगीं कि 'वह क्यों नहीं आयौ उनका उत्तर होगा कि' घर में तो हम कबऊ कबऊ जेऊ कहि लेतिएँ कि बु चों न आयौ, पर आपसे जेई कहेंगी वह क्यों नहीं आए। इससे ज्ञात होता है कि जिस बोली के द्वारा वे आपने खड़ी-बोली प्रेम को प्रदर्शित कर नहीं हैं उसी के मूल में ब्रजभाषा घर किए बठी है।

(३) यह पूछने पर कि वे मोंड़ा मौंड़ी कहेंगीं कि छोरा छोरी या लड़का लड़की तो उनका संकेत लड़का लड़की की ओर होगा, लेकिन संभव है कि वार्तालाप के बीच में ही उनके मुख से मोंड़ा, मौंड़ी निकल जाय।

चाहे उन्हें शहर में आए हुए कुछ भी समय क्यों न हुआ हो फिर भी ये शहर की बोली के समान ही अपनी बोली को बताया करती हैं। बोली का यह रूप जन समाज में अस्थिर रहता है और अनेक अवसरों पर उन्हें बोलने का ढंग बदल देना पड़ता है। शब्द और वाक्य तथा ध्वनि परिवर्तन आदि सभी बातों में इनकी बोली एक प्रकार से अलग ही सी रहती हैं।

५ साल से १० तक के बच्चों के विषय में भी विचार कर लिया जाय। बच्चों में द्विभाषियापन पाँच साल की उम्र से ही शुरू हो जाता है। यद्यपि प्रस्तुत सामग्री में बच्चों की बोली के नमूने बहुत कम है, कहीं, समूहिक नमूनों में उनकी बोली भी सम्मिलित है, परन्तु ज्ञात हुआ कि उनमें खड़ी बोली की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। निम्नस्तर परिवार के बच्चे भी खड़ी बोली उतनी ही सुविधा के साथ बोल सकते है जितनी सुविधा के साथ वे ब्रजभाषा बोलते है और कहीं-कहीं तो यह भी देखा गया कि निम्नस्तर के परिवारों में जहाँ माँ, बाप घर में ब्रजभाषा का प्रयोग करते है वहाँ बच्चे प्रायः खड़ी बोली ही बोलते है, और विशेषकर स्कूल जाने वाले बच्चों में तो यह बात ७५ प्रतिशत से अधिक में पाई जाती है।

लड़की की अपेक्षा लड़कियों में शिक्षा क प्रचार कम है, और बोली के विषय में दुभाषियापन उनमें कम पाया जाता है। प्रायः लड़कियों को दूर-दूर बच्चों के साथ खेलने के अवसर भी कम ही मिलते हैं, यही कारण है कि निम्नस्तर परिवारों की लड़-कियाँ विशेषकर ब्रजभाषा का व्यवहार करती हैं। जिस गति और अनुपात से लड़के खड़ी बोली सीख लेते है उतनी ही गति और अनुपात से लड़कियाँ खड़ी बोली नहीं सीखती है।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली से इतर भाषा बोलने वाले जन समुदाय है उनके बच्चे ब्रजभाषा नहीं सीखते है। जैसे कुँच न दिओं, हाबूड़ों और खुरपल्टों के बच्चे ब्रज-भाषा बोलना नहीं जानते, वे ब्रजभाषा समझ तो लेते है लेकिन उसका व्यवहार नहीं करते है लेकिन खड़ी बोली का व्यवहार वे अबाध गति से करते रहते है। इन लोगों के बच्चे तो प्रायः ४ साल से कम ही उम्र से खड़ी बोली और अपनी मातृभाषा दोनों साथ-साथ बोलने लग जाते है।

इन वर्गों की स्त्रियाँ आगरे के निम्नस्तर परिवारों की स्त्रियों की तरह ब्रजभाषा नहीं बोलती है। यहाँ हम उपरोक्त निष्कर्ष का ठीक उल्टा देखते है। अर्थात् पुरुष तो ब्रजभाषा भीं बोलते हैं, खड़ी बोली भी और अपनी मातृभाषा भी, लेकिन स्त्रीयाँ दो भाषाएँ जानती हैं। एक अपनी मातृभाषा और दूसरी खड़ी बोली। इसका कारण यह हो सकता है कि पुरुषों का संपर्क प्रायः गाँवों से भी रहता है और वे ब्रजभाषा सीख जाते हैं, लेकिन स्त्रियाँ गाँवों में प्रायः कम ही जाती हैं, कुचमँदियों की स्त्रियाँ ईंडुरी, झुन्झुना, टोकरी आदि बेचने के लिए गाँवों में जाया करती हैं लेकिन वे भी ब्रजभाषा नहीं बोलती हैं। इन जनसमुदायों की औरतों में आयु के विचार से बोली भेद का कोई वर्गीकरण नहीं किया जा सकता, छोटी बड़ी सभी औरतें खड़ी बोली का व्यवहार करती हैं।

सिन्धी, पंजाबी, पहाड़ी, गुजराती, बंगाली, महाराष्ट्री आदि जितने अन्य प्रान्तों के व्यक्ति हैं उनमें ब्रजभाषा का प्रचार नहीं पाया जाता है। यहाँ के लोगों से बात करने की बोली का माध्यम खड़ी बोली ही है। यह भी देखा गया कि इन लोगों में से जो परिवार शुद्ध ब्रजभाषा वक्ताओं के मध्य में दीर्घकाल से रह रहे हैं वे भी ब्रजभाषा का व्यवहार नहीं करते हैं। हाँ कुछ समझ तो अवश्य लेते हैं, बोल नहीं सकते हैं। इन वर्गों की बोली

के जो नमूने हैं उनसे ज्ञात होता है कि वे शुद्ध खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं यह बात पुरुष और बच्चे सभी के लिए सच है।

आगरे में कुछ वर्ग ऐसे भी हैं जो यहाँ कई पीढ़ियों से रह रहे हैं लेकिन शुद्ध खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं। शिक्षित परिवारों के विषय में यह कहा जा सकता है कि उन पर शिक्षा का प्रभाव है लेकिन जो शिक्षित परिवार नहीं भी हैं वे भी खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं। उदाहरण के लिए मुसलमानों को लिया जाय। सदैव खड़ी बोली का ही व्यवहार करेंगे स्त्री, पुरुष और बच्चे सभी। यह भी देखा गया है कि एक ईसाई या मुसलमान परिवार वर्षों से ब्रजभाषा बोलने वालों की बस्ती में रह रहा है लेकिन उस परिवार की बोली खड़ी बोली ही बनी रही है। कुछ मुसलमान लोग जो शहर की सीमा के गाँवों में रहते हैं वे भी प्रायः खड़ी बोली ही बोला करते हैं यद्यपि उनका सम्पर्क सदैव ब्रजभाषा भाषी जनता को ही हुआ करता है।

अधिकांशतः वैश्य परिवार खड़ी बोली का ही व्यवहार करते हैं। हाँ उनकी खड़ी बोली में कुछ उनकी अपनी विशेषताएँ हैं। पुरुष तो अधिकांशत खड़ी बोली का ही व्यवहार करते हैं, हाँ स्त्रियाँ कुछ ब्रजभाषा भी बोलती हैं, लेकिन उन में भी खड़ी बोली को बोलने वाली अधिक मिलेंगी। बच्चों में दुभाषियापन नहीं पाया जाता है। लड़के और लड़कियों की बोली में भी कुछ अन्तर दीख पड़ता है। इस वर्ग की घर की और बाहर की बोली में कोई भेद नहीं दीख पड़ता है, भेद केवल ब्रजभाषा भाषी परिवारों की बोली में ही पाया जाता है।

आगरे में मेंहतरों की बोली का एक विशेष महत्व है। मेंहतरों में स्त्री पुरुष, बच्चे, सभी की बोली में एक रूपता है। मेंहतर अधिकांशतः खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं। मेंहतरों में शिक्षा का बहुत अभाव है और स्त्री तो कोई ही शिक्षित हो, बच्चे भी बहुत कम ही पढ़ रहे हैं और पढ़ने वालों मे सिर्फ दो चार कक्षा तक ही पढ़े हैं, शिक्षा के अभाव में भी वे खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं यह आश्चर्य की बात है, वैसे अधिकांशतः शिक्षा खड़ी बोली की जन्मदाता है। लेकिन मेहतर वर्ग इसका अपवाद है। प्रायः देखा जाता है कि पढ़ लिखकर व्यक्ति ब्रजभाषा का व्यवहार छोड़ जाते हैं, लेकिन मेंहतरों के विषय में यह बात सही नहीं उतरती, वे बिना शिक्षा के प्रभाव के ही खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं। मेंहतरों की औरतें भी घरों से बाहर निकलती हैं और सभी प्रकार के व्यक्तियों के संपर्क में आती हैं, अतएव संभव है कि भिन्न प्रभावों के कारण उनकी बोली का यह रूप बन गया हो। मेंहतरों की घर और बाहर की बोली एक है। इनमें दुभाषिये प्रायः कम ही मिलते हैं और उम्र के विचार से भी बोली में कोई अन्तर स्पष्ट नहीं होता है।

मेंहतरों की बोली की एक रूपता की तुलना मुसलमानों की बोली की एक रूपता से की जा सकती है; अर्थात् मुसलमान भी खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं और मेंहतर भी। लेकिन इन दोनों की बोली में एक बड़ा अन्तर शब्दावली का है। मुसलमानों की बोली में विशेषकर अरबी, फारसी के शब्द विशेष प्रयुक्त होते हैं जब कि मेंहतरों की बोली में हिन्दी के शब्दों का ही बाहुल्य होता है। वाक्यों के गठन में कोई अन्तर नहीं है।

मुसलमानों की बोली में जहाँ अरबी, फारसी के शब्दों में क़, ख़, ग़, ज़, फ़ जैसी ध्वनियों का व्यवहार होता है, वहाँ मेंहतर अरबी फारसी के कतिपय शब्दों को भी हिन्दी की ध्वनियों के क्रम से बोला करते हैं।

जिस प्रकार कुछ वर्ग शुद्ध खड़ी बोली के बोलने वाले हैं वैसे ही कुछ वर्ग शुद्ध ब्रजभाषा के बोलने वाले भी हैं। इन वर्गों में से सर्व प्रथम कुम्हारों का नाम लिया जा सकता है। मोती कटरा, पचकुइयाँ, ताजगंज, नामनेर की कुम्हारों की बस्ती से प्राप्त नमूनों के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कुम्हार शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग करते हैं। वैसे युवकों की बोली में दुभाषियेपन के कुछ लक्षण आते हैं लेकिन इतने निखरते नहीं हैं। ३५ वर्ष की आयु से ऊपर के पुरुष प्रायः बोली में परिवर्तन कम ही करते हुए देखे गये। स्त्रियों और लड़कियों में भी ब्रजभाषा का ही प्रचार है। छोटे लड़कों के लिए यह कहा जा सकता है कि मोती कटरे के कुम्हार के लड़कों में कुछ दुभाषियापन आता है, बाकी नामनेर और ताजगंज के बच्चों में यह प्रवृत्ति दबी रहती है।

कुम्हारों के साथ ही एक वर्ग कोलियों का भी लिया जा सकता है। इस वर्ग में भी शिक्षा का अत्यन्त अभाव है। इनका निवास विशेषकर मंटोला, ताजगंज, टीला अजमेरी खाँ और हरिया की बगीची हैं। इसके अतिरिक्त एक दो परिवार करके तो अनेक स्थानों पर फैले हुए हैं। इस वर्ग की बोली के विषय में एक बात कही जा सकती है कि जो लोग कहीं शहर में नोकरी करते हैं, वे तो खड़ी बोली का ही व्यवहार करते हैं, लेकिन घर कपड़ा बुनने वाले, पुरुष और साथ में स्त्री और बच्चे प्रायः ब्रजभाषा ही बोलते हैं।

इन विशुद्ध बोली वाले वर्गों के अतिरिक्त कुछ जन समुदाय ऐसे भी हैं जो ब्रजभाषा और खड़ी बोली में से कोई भी विशुद्ध रूप में नहीं बोलते हैं। इन्हीं वर्गों की बोली में दुभाषियापन की प्रवृत्ति विशेष रूप से देखी जाती है। इन वर्गों के घर की बोली और प्रायः औरतों की बोली निश्चित रूप से ब्रजभाषा ही रहती है। और बच्चों की विशेषकर खड़ी बोली। इन वर्गों में इस अस्थिरता के आ जाने का एक कारण है इनमें बढ़ती हुई शिक्षा। इस कोटि में जाटव सबसे पहले आते हैं। जाटवों के प्रायः ७०% बच्चे स्कूलों में पढ़ने जाया करते हैं, और यह अधिकांशतः ब्रजभाषा का व्यवहार त्यागते जा रहे हैं। जाटव अधिकांशतः नोकरी पेशे में लगे हुए हैं जूतों के कारखानों में काम करते हैं और अपनी बोलचाल में ही ये खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों का ही व्यवहार करते हैं। इस जन समुदाय के विषय में उल्लेखनीय बात यह है कि ये आपसी वार्तालाप में ही इन दोनों बोलियों का व्यवहार करते हैं। शराब पी लेने पर ये लोग ब्रजभाषा नहीं बोलते हैं। लड़ाई झगड़े में प्रायः खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं।

नाई, कायस्थ, ब्राह्मण ठाकुर आदि की बोली को किसी एक बोली की प्राधान्यता से अभिहित नहीं किया जा सकता है। हम यह कह सकते हैं कि भोगी पुरा में कायस्थ वर्ग में घर की बोली के रूप में ब्रजभाषा का प्रभाव अधिक है लेकिन कुछ परिवार विशुद्ध रूप में खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं। नामनेर में ब्राह्मण वर्ग में विशुद्ध खड़ी बोली

का प्रचार है यद्यपि इस मुहल्ले में अधिकांशतः शिक्षित पुरुष हैं लेकिन स्त्रियाँ भी घर में खड़ी बोली का ही व्यवहार करती हैं ।

इस प्रकार जैसे कि संकलित नमूनों से स्पष्ट है कि आगरे में ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों का ही व्यवहार होता है । किसी वर्ग में विशुद्ध ब्रजभाषा का प्रचार है और बाहर के किसी व्यक्ति से वे खड़ी बोली में वार्तालाप करते हैं तो किसी वर्ग में केवल खड़ी बोली ही बोली जाती है जिसका अपना एक विशिष्ट रूप है तथा कुछ वर्गों में खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों साथ साथ बोली जाती हैं ; इन दोनों के अनुपात में भी एक बड़ा अन्तर दीखता है ।

खड़ी बोली और ब्रजभाषा के अतिरिक्त भी आगरे में जो अन्य प्रान्तों के लोग स्थायी रूप से रहने लगे हैं, उनकी बोलियाँ भी अपना एक बिशिष्ट स्थान रखती हैं । यहाँ के लोगों से वार्तालाप करने के लिए जिस बोली को उन्होंने माध्यम माना है वह एक प्रकार से खड़ी बोली ही है लेकिन उस पर उनकी अपनी बोली का प्रभाव स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है । जैसे पंजाबियों से प्रायः सुना गया है "मैंनू क्या पता है ।" इस वाक्य में सर्वनाम का रूप बिलकुल पंजाबी ही बना रहा है और क्रिया तथा क्रिया विशेषण का रूप खड़ी बोली की तरह ही है । इसी प्रकार वार्तालाप में पंजाबी लोग साहब के स्थान पर जी का प्रयोग करते हैं और उनकी खड़ी बोली के वार्तालाप में "ऐन्जी" "हान्जी" का प्रयोग विशेष रूप से पाया जाता है । इसी प्रकार महा प्राण ध्वनियों का प्रयोग पंजाबी बड़े विचित्र रूप में करते हैं, खड़ी बोली में बात करते समय भी सघोष महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण वे अपने ही ढंग से करते हैं । जैसे बहन जी और घर शब्दों में ब और घ का उच्चारण ये लोग 'प्र' और 'क्हर' की तरह करते हैं । पंजाबियों की खड़ी बोली से अधिक सिन्धियों की खड़ी बोली पर यह प्रभाव और भी स्पष्ट दीख पड़ता है सिन्धियों की खड़ी बोली में उनकी ध्वनियों की विशेषताएँ, शब्दों के उच्चारण का भेद तथा स्वर लहर का भेद मिल जाते हैं ।

आगरे में पंजाबियों और सिन्धियों का आगमन पाकिस्तान के बन जाने पर हुआ । इससे पूर्व इनकी संख्या न कुछ के बराबर थी । यद्यपि आगरे में आकर ही विशेष कर इन्होंने यहाँ की विशिष्ट खड़ी बोली सीखी, परन्तु इससे पूर्व भी ये हिन्दुस्तानी को माध्यम बनाकर बातचीत करते थे । हाँ यहाँ आकर इन्होंने यहाँ की बोली बहुत कुछ अंश में सीखी । अब पंजाबियों के अनेक ऐसे परिवार हैं जो घरों में भी खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं । वैसे सिन्धी पंजाबियों की अपनी बोली को आगरे की बोली नहीं माना जा सकता लेकिन वर्णनात्मक भाषा विज्ञान के अनुसार किसी भी स्थान की जीवित भाषा का अध्ययन किया जाता है और इस दृष्टि से सर्वेक्षण में भी इनका अध्ययन किया जाना था लेकिन समयाभाव से इन पर विचार नहीं किया जा सका है । आगरे की बोलियों के सर्वेक्षण में केवल ब्रजभाषा, खड़ी बोली, कुचमँदिये, हाबूड़े और खुरपल्टों की बोलियों पर ही विचार किया जा सका है। वैसे इसके अतिरिक्त खड़ी बोली के वक्ताओं में वे लोग भी आते हैं जिनकी मातृभाषा गुजराती, बंगाली, राजस्थानी, मराठी आदि कोई प्रान्तीय भाषा है । कुछ समय से तेलुगु, तामिल भाषाओं के बोलने वाले भी यहाँ आगये हैं और यहाँ की

खड़ी बोली सीख गये हैं। आगरे में पहाड़ी भी एक बड़ी संख्या में रहते हैं लेकिन इनमें से अधिकांश घरों में नोकर ही हैं, स्थायी रूप से यहाँ इनका निवास नहीं हो पाया है। काश्मीरी भी आगरे में रहते हैं, लेकिन उनकी भाषाओं पर विचार नहीं किया जा सका है।

कुचमँदिये आगरे में कई पीढ़ियों से रह रहे हैं। अब ये स्थायी रूप से ही बस गये हैं। बोल चाल के माध्यम के रूप में ये खड़ी बोली को ही अपनाते हैं। लेकिन इनकी अपनी घर की बोली खड़ी बोली नहीं है। प्रस्तुत सामग्री के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इनकी अपनो बोली में एक बड़ी संख्या में खड़ी बोली और ब्रजभाषा के शब्द भी हैं, कहीं कही उनके उच्चारण में थोड़ा बहुत परिवर्तन हो जाता है। इनकी बोली में कोई नई ध्वनि सुननेमें नहीं आई। ध्वनियों का उच्चारण प्रयोग और संगम विशेष कर खड़ी बोली और ब्रजभाषा की भाँति करते हैं। क्रिया के काल रूपों में अवश्य भेद दिखाई पड़ता है और वाक्य रचना का ढंग भी बहुत कुछ हिन्दी की तरह ही है, कहीं कहीं कुछ रूपों में अन्तर हो जाया करता है। क्रियाओं में ध्वनियों का परिवर्तन एक निश्चित नियम के अनुसार हुआ करता है।

कुचमँदिए अपने को आदिबासी (आदिवासी) कहा करते हैं और अपनी बोली को ध्यारा बोली कहते हैं। अतएव इनकी बोली को यही नाम दिया गया है। आगरे में इनके कुछ हजार घर के करीब होंगे। और सभी स्थानों म इनकी बोली का एकसा रूप ही है। हाँ इतना अन्तर अवश्य है कि कुछ स्थानों पर ये खड़ी बोली के अतिरिक्त ब्रजभाषा का व्यवहार भी करते हैं। जुम्मनखाँ की झोंपड़ी नामक स्थान पर इनके लगभग २० घर है, वहाँ ये बालक, बड़े, बूढ़े सभी ब्रजभाषा का भी व्यवहार करते हैं। खड़ी बोली और ध्यारा बोली तो ये बोलते ही हैं

खड़ी बोली, ध्यारा बोली और कहीं ब्रजभाषा के अतिरिक्त सभी स्थानों के आदिवासी एक और बोली का व्यवहार करते हैं। यह बोली इनकी आपस की बोलचाल नहीं है बल्कि किसी रहस्य को छिपाने के लिये ये लोग यहाँ के लोगों के सम्मुख किसी और बोली को बोलने लगते हैं जिसे इनकी गढ़ी हुई बोली (Jargon) कहा जा सकता है। इस बोली की रचना ये निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर करते हैं। उदाहरण के लिए गिनतियों की रचना में ये 'एलू' प्रत्यय और 'ख' उपसर्ग जोड़ा करते हैं यथा दो को दुबेल्, तीन को तिबेलू तथा अड़सठ को खड़सठ आदि कहकर पुकारते हैं। इसी प्रकार क्रियाओं में ये लोग "रैं रोऊँ" "रै रोए" आदि बढ़ा कर रूपों की रचना किया करते हैं। इसके अतिरिक्त इस बोली के कुछ इनके पृथक शब्द होते हैं जिनका व्यवहार ये अपनी बात को गुप्त रखने की इच्छा से ही करते हैं। जैसे गेहूँ को ये लोग इस बोली में रोमुगं कहते हैं। इस गुप्त बोली को ये लोग अपनी पस्नो कहते हैं।

ध्यारा बोली बहुत कुछ खड़ी बोली से मिलती जुलती है। शब्दों और वाक्य रचना का साम्य इस समानता का कारण है। लेकिन खुरपल्टों की बोली बहुत भिन्न है— शब्दावली की दृष्टि से भी और वाक्य रचना की दृस्टि से भी। इसके अतिरिक्त ये अपनी बोली को अधिक से अधिक गुप्त भी रखना चाहते हैं। यद्यपि आगरे में इनकी संख्या

अधिक नहीं है लेकिन यहाँ ये लोग स्थायी रूप से रह रहे हैं। इनकी खड़ी बोली में भी बहुत कुछ इनकी बोली के शब्द भी आजाया करते हैं जैसे तमारो बैल कां गओ पंडज्जी इस वाक्य में तुम्हारा के स्थान पर 'तमारों का प्रयोग इनकी बोली का प्रभाव प्रगट करता है। इसके अतिरित इनकी बोली की एक विशेषता यह है कि ये वाक्य में प्रत्येक शब्द के अत्तिम अक्षर को बल के साथ बोलते हैं। लेकिन जिन शब्दों में अन्तिम स्वर ह्रस्व होता है और इससे पूर्व का स्वर दीर्घ तो ये पूर्व के स्वर पर बल दिया करते हैं। अर्थात् शब्द में किसी न किसी स्वर पर लम्बा बलाघात अवश्य होता है।

खुरपल्टे अपनी बोली को कोई विशेष नाम नहीं देते हैं। उनकी एक ही बोली है, आदि वासियों की तरह उनकी कोई अपनी अलग पस्तो बोली नहीं है। खुरपल्टों की बोली एक विशेष नाम 'खुरपल्टी' दिया जा सकता है। थीसिस में इनकी बोली को खुरपल्टी के नाम से प्रगट किया गया है।

जैसा कि कहीं कहीं आदिवासियों कीं बोली में ब्रजभाषा भी साम्मलित की जा सकती है, खुरपल्टों के विषय में यह बात सच नहीं है। इनके तो बच्चे बड़े, स्त्रियाँ सब केवल दो ही बोली जानते हैं एक खुरपल्टी और दूसरी खड़ी बोली। बच्चे प्राय: छोटी उम्र से सी। लगभग ३ साल से ऊपर के खड़ी बोली सीख जाते हैं और भीख माँगने के लिये ये खड़ी बोली का व्यवहार हीं करते हैं।

घ्यारा बोली की तरह खुरपल्टी के नमूने भी निश्चित सामग्री के आधार पर लिखे गये हैं। एक व्यक्ति से सामग्री संकलित करके दो व्यक्तियों से उस सामग्री परीक्षण कर लिया गया है। इस सामग्री में स्वतन्त्र शब्द, वाक्यांश और वाक्य सम्मिलित हैं। स्वतन्त्र रूप से ली गई सामग्री एक वृतान्त के रूप में है। वाक्यांश और वाक्य धीरे-धीरे और कई कई बार सुन सुन कर अंकित किए गए थे। इस सामग्री में व्याकरणिक कोटियाँ और सभी प्रकार के शब्द आगए हैं।

हाबूड़ों की संख्या आगरे में कम हैं (लगभग ५-७ घर ही हैं) लेकिन आगरे में इन्होंन अपने मकान बना लिये हैं और स्थायी रूप से रहने लगे हैं। ये विशेष कर नौकरी करते और रिक्शा आदि चलाया करते हैं। औरतें भीख माँगने का काम भी करती हैं इनकी बोलियाँ ब्रजभाषा, खड़ी बोली और इनकी अपनी बोली तीन हैं। लेकिन ब्रजभाषा का व्यवहार तो ये कम ही करते हैं विशेषकर माध्यम के रूप में खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं इनकी बोली में यद्यपि कोई हिन्दी को अतिरिक्त अन्य ध्वनियाँ नहीं मिलीं, हाँ हकार का प्रयोग कई ध्वनियों के साथ मिला, जो यहाँ की खड़ी बोली और ब्रजभाषा में नहीं पाया जाता है। ध्वनि के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि हिन्दी के 'स' के स्थान पर ये 'ख' का प्रयोग करते हैं जैसे सुसर के स्थान पर ये खुखर और सासु के स्थान पर खाखु का उच्चारण करेंगे।

हाबूड़े भी अपनी बोली को कोई विशेष नाम नहीं देते हैं अतएव इनकी बोली को 'हाबूड़ी' नाम दिया जा सकता है। थीसिस में इसी नाम का प्रयोग किया गया है।

हाबूड़ों की खड़ी बोली भी आगरे की खड़ी बोली से कुछ अंशों में भिन्न है। ये लोग अपनी वोली के शब्दों का (जैसे सर्वनाम इत्यादि शब्द) प्रयोग खड़ी बोली के

व्यवहार में कर दिया करते हैं। इसके अतिरिक्त उनके अपने बोलने के ढंग का में अन्तर आजाता है। इन बोलियों का विवेचन आगे चलकर किया जायेगा।

खुरपल्टी, हाबूड़ी और घ्यारा बोली के मूल श्रोत भिन्न २ हैं जिसका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सका है। प्रस्तुत प्रबन्ध में तो प्रस्तुत सामग्री के आधार पर इनकी बोली की विशेषताओं पर प्रकाश डाला जायगा। यद्यपि इन तीनों जन समुदायों का सम्बन्ध पास पड़ोस के शहरों और गाँवों से रहता है लेकिन ये विशेषकर अपनी बोली के अन्य व्यक्तियों से कम ही मिल पाते हैं, हाँ शहर में तो ये स्त्री पुरुष, बच्चे सभी प्रत्येक जन समुदायों से मिलते जुलते हैं और इस अर्थ में इनकी अपनी बोलियाँ भी आगरे की बोली से प्रभावित हुई हैं एक दीर्घ काल से इन का निवास आगरे में होने से कहीं कहीं तो इनकी बोलियाँ बिलकुल आगरे की खड़ी बोली से अभिन्न सी लगती हैं।

श्री मोहनलाल शर्मा

टिप्पणी—२

पद्य-कहानी : कामावती-कथा

[गुर्जर वाङमय का बड़ा ही सद्‌भाग्य है कि उसका इतिहास हमें कड़ीबद्ध मिल पाता है। जैन और जैनेतर कवि-लेखकों की मुख्य-मुख्य रचनायें उपलब्ध हैं। आज जो विषय हम ले रहे हैं वह प्राचीन गुजराती भाषा की एक लोककथामय पद्य-कहानी है। उसके रचयिता हैं श्री वीरजी कवि। वे गुजराती के महान आख्यान-लेखक प्रेमानंद[1] (सन् १६३६–१७२४) के शिष्य और समकालीन थे। कई प्राचीन कवियों की भाँति उनके माता-पिता के नामों का पता नहीं चलता है; और न तो उनकी जीवन-मृत्यु की साल या मिति प्राप्त होती है। वे चातुर्वेदी मोढ़ ब्राह्मण जाति के थे। एकदा वह अपने पिता के साथ किसी कारणवशात् बड़ौदा आये हुए थे। वहाँ उनकी महाकवि प्रेमानंद से भेंट हो गई। मुलाक़ात से महाकवि प्रेमानंद की तेजस्विता, प्रतिभा और व्यक्तित्व का बहुत गहरा असर उन पर पड़ा। फिर तो वे अपना वतन बहरानपुर छोड़कर बड़ौदा में ही निवास करने लगे। प्रेमानंद से उन्होंने श्रीमद्‌भागवत् और अन्य कई काव्य-ग्रंथों का अभ्यास किया। प्रेमानंद के सतत सान्निध्य से उन्हें इस बात का भी पता चला कि प्रेमानंद को गुजराती भाषा के प्रति अति प्रेम और सम्मान है। सो उन्होंने आहिस्ता-आहिस्ता गुजराती में काव्य का सर्जन आरंभ कर दिया। इसमें प्रेमानंद की प्रेरणा उन्हें सतत मिलती रही। फिर तो जब वे अपने वतन बरहानपुर जाते तो वहाँ अपने काव्यों की कथा भी करते रहते। कहा जाता है कि वे बड़े स्वमानी और क्रोधी थे! रस, अलंकार आदि के वे पूरे ज्ञाता थे। यही कारण है कि उनके विविध आख्यानों एवम् पद्य कहानियों में वे अपनी इच्छानुसार रस भर सकते हैं। प्रेमानंद ने जब गूर्जर वाङमय के विकास और वृद्धि-समृद्धि के लिये एक जीवंत योजना बनाई, और उस योजना के अनुसार साहित्य सर्जन करने का अनुरोध अपने शिष्यों से किया, तो वीरजी ने पद्य-कहानियाँ लिखने का उत्तरदायित्व अपने सिर ले लिया। वे तत्कालीन प्रसिद्ध पद्य-कहानी लेखक श्री शामल भट्ट के प्रतिद्वंद्वी थे। किन्तु कहते हुए दुःख होता है कि वे शामल से अधिक आगे नहीं जा सके; और न शामल-सी अद्‌भुत कहानियाँ भी लिख सके। उनका राग बहुत मधुर-सुंदर था। प्रेमानंद उनसे बारम्बार भजन सुनते रहते। वीरजी के निम्न ग्रंथ उपलब्ध हैं।

---

१. प्रेमानंद के जीवन परिचय के लिये देखिये 'भारतीय-साहित्य' के जुलाई–५६ के अंक में मेरा लेख। पृष्ठ ५३।

१—कामावती कथा ।
२—बलिराजानुं आख्यान ।
३—काकुराज कथा ।
४—सुरेखाहरण ।
५—दशावतार ।
६—व्यास कथा ।

वे स्वयं जमींदार थे । इससे गुजर-बसर की उन्हें कोई चिंता न थी । प्रेमानंद की मृत्यु के वक़्त वे उनके पास ही थे, और फूट-फूटकर रोये थे ।

उनकी प्रसिद्ध रचना 'कामावती कथा' अद्‌भुत रस से भरपूर है । पाठक उसे पूरी किये बिना छोड़ नहीं सकता है । वह रचना कुछ इस प्रकार है ।]

बहुत पुरानी बात है ।

उस जमाने में गंगा के तट पर एक सुंदर नगर था । नगर के राजा का नाम कर्मध्वज था । वह बड़ा सत्यवादी और धर्मनिष्ठ था । उसके अति स्वरूपवती अंबिका नामक एक राजकुमारी थी ।

राजा कर्मध्वज के सामने एक दिन एक ब्राह्मण हाथ बाँधकर खड़ा हुआ । बोला—'हे राजन्, मैं कई दिनों से भूखा हूँ । मुझे भोजन और दक्षिणा दीजिये ।' ब्राह्मण ने अपना वाक्य पूरा किया कि राजकुमारी अंबिका किसी काम के लिये राजा के पास आई । ब्राह्मण ने राजकुमारी को देखा । वह उसके सौंदर्य से मोहित हो उठा । अपने ब्राह्मण धर्म को भूलकर वह उसे टिक-टिकाकर देखने लगा । परंतु राजकुमारी तो रत्नगर्भा थी । उसे अपनी सुंदरता का तिलभर भी अभिमान नहीं था । उसने तुरंत नम्रतापूर्वक ब्राह्मण से पूछा—'हे देव, आप मेरी ओर टिकटिकाकर क्या देख रहे हैं ? कहिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकती हूँ ?'

अंबिका के मुँह से निकले मधुर सरोद-से वचनों को सुनकर ब्राह्मण का मोह और बढ़ गया । मोहित दशा में वह पुनः बोला—'हे स्वरूपवती नारी ! तेरे स्वरूप को देखकर मैं मोह-मुछित हो उठा हूँ । मेरा संसार में रहना धिक् है । चूँकि तुम आज मेरी पत्नी नहीं हो............।'

विप्र के ये अशुभ वचन सुनकर राजकुमारी ने कान में उंगलियाँ डाल दीं । बोली—'हे महात्मन्, परनारी को विकृत नजर से देखकर आप पाप की बड़ी गठरिया अपने सिर ले रहे हैं । जो औरत परपुरुष को अपना भाई समझती है, और जो पुरुष परनारी को अपनी भगिनी समझता है, ईश्वर उन्हीं का हमेशा कल्याण करते हैं ।'

पर विप्र के हृदय पर अंबिका की वाणी का कुछ भी असर नहीं पड़ा । वह पुनः मोहमूछित हालत में बोला—'हे प्रभो ! इसी औरत को आगामी अवतार में पत्नी के रूप में पाने के लिये मैं वाराणसी जाकर अपना सिर कटाऊँगा, और मृत्यु से भेंटूंगा ।' यह कहकर ब्राह्मण भोजन और दक्षिणा लिये बिना ही वहाँ से वाराणसी की ओर चलने लगा । वाराणसी जाकर उसने अपना सिर कटाया ।

ब्राह्मण के चले जाने के बाद राजकुमारी अंबिका के मन में विचारों के कई प्रवाह बहना शुरू हो गये––'मैं कई सालों से ब्राह्मणों को बराबर दान देती चली आ रही हूँ। किन्तु उस ब्राह्मण की मृत्यु के कारण मुझे इस दुनिया में कई अवतार धारण करते रहना होगा। हे प्रभो ! ब्रह्म-हत्या से छुटकारा पाने के लिये मुझे कोई उपाय दिखाइये।' कई दिनों तक उसे कोई उपाय नहीं सूझा। आखिर उसे एक उपाय सूझा, वह रात्रि को महालय से चुपचाप निकली, और द्वारिका की ओर आगे बढ़ी। द्वारिका जाकर उसने अपना प्राण त्याग दिया। मृत्यु के समय उसने ईश्वर से माँगा––'हे दयालु अगले अवतार में ब्राह्मण और मुझे भाई-बहिन बनाइये।.........'

राजकुमारी और ब्राह्मण ने, एक ही, शुकयोनि में जन्म लिया। बड़े होने के पश्चात दोनों ने शादी कर ली। शुक पति पत्नी जंगल में क्रीड़ा करने लगे। आनंद से रहने लगे। यथा समय शुकनारी गर्भिणी हुई। एक दिन उसने अपने पति से कहा––'हे पति, गर्मी के दिन हैं। सूरज की गर्म किरणें मुझसे सहन नहीं होतीं। कृपया किसी शीतल स्थान को ढूंढ़कर मुझे वहाँ ले चलिये।' पत्नी की बात सुनकर पति ने बड़े प्रेम से कहा–– 'प्रिये ! कई दिनों से मैंने एक बहुत शीतल स्थान देख रखा है। यदि तेरी चाह हो तो मैं तुम्हें बड़ी खुशी से वहाँ ले जा सकता हूँ।'

और दोनों उस नये स्थान की ओर उड़ चले। नया स्थान बाँस के अरण्य में आया हुआ था। जनविहीन। नजदीक में एक नदी बह रही थी। शुक नारी को वह स्थान बहुत पसंद आ गया। किन्तु कुछ अरसे के बाद. एक दिन, उसने अपने पति से कहा–– 'हे स्वामी, बाँस के जंगल में अप्रत्याशित अग्नि पैदा हो जाने की भीति निरंतर बनी रहती है। अगर कहीं वैसा हो जाये तो मैं अपने भावी बच्चों को लेकर भयंकर अग्नि के पार कैसे जा सकूंगी ?'

यह सुनकर शुक हँसा। हँसते हुए उसने उत्तर दिया—'हे नारी, तुम तो बिलकुल नारी-सी निर्बल ही रहीं। भावी की चिंता मत करो। क्योंकि भावी खुद हम ही बनाते हैं–– वर्तमान के आधार पर ! अगर अग्नि प्रकट हो जाएगी तो मैं इस नदी के पानी से उसे शांत कर सकता हूँ......।'

घोंसला बनाकर दोनों चैन से रहने लगे। यथासमय शुकनारी को प्रसूति हुई। चार अंडों से, चार सुन्दर बच्चों ने इस धरती का दर्शन किया। उनकी चोंचें रक्तवर्णीय थीं, और छोटी-छोटी पंखें निकलीं। चारों बच्चे अति सुन्दर थे।

ऊष्ण वसंत ऋतु का आगमन हुआ। धरती पर गरम किरणें दौड़ने लगीं। पशु, पंछी, मानव सब गर्मी के मारे तंग आ गए, और एक दिन अति घर्षण और गर्मी के कारण बाँस के जंगल में अग्नि प्रकट हो गई। प्रतिक्षण अग्नि का स्वरूप भयंकर होता चला। अग्नि-ज्वालाएँ देखकर शुकनारी जोर जोर से चिल्लाने लगी—'दौड़ो ! दौड़ो ! भयंकर अग्नि-ज्वालाएँ मेरे बच्चों को 'स्वाहा' कर जाएँगी।' और फिर अपने पति को डाँटने लगी—'देखो ये मृत्यु समान अग्नि-ज्वालाएँ ! प्रथम आपने मेरी एक भी न सुनी। अब अपने बच्चों को जल्दी बचा लीजिए।' यह कहकर वह अग्नि-ज्वालाएँ देखती हुई कल्पांत करने लगी। शुकनर बेचारा कर भी क्या सकता था ! उसके बस

की बात थोड़ी ही थी। इतने अग्नि-ज्वालाएँ में आकाश के साथ खेलने लगीं। शुक इतनी भयंकर ज्वालाएँ देखकर घबरा गया। वह उड़कर दूर एक वृक्ष की डाली पर जा बैठा। बैठा हुआ कुटुम्ब को बचाने की योजना गढ़ने लगा। यह देखकर शुकनारी बोली—'हे दुष्ट स्वामी, तुम्हें धिक् हो! आपत्ति काल में खानदान की रक्षा करने के बजाय तुम केवल अपनी ही जान बचाने के लिए दूर जा बैठे हो। प्रेम की सच्ची परीक्षा विपत्ति में ही होती है।' इतने में शुकनर की दृष्टि सरिता की ओर गई। उसने सोचा--'चलूँ, नदी के जल से अग्नि-ज्वालाएँ शान्त करने का प्रयत्य करूँ।' यह सोचकर वह पुनः उस वृक्ष की डाली से सरिता की ओर उड़ा। किन्तु उसे उड़ता देख शुकनारी ने सोचा—'उसका पति अब तो उसे और अपने बच्चों को छोड़कर बिल्कुल ही गायब होने जा रहा है! शुकनारी के सिर में यह देखकर भ्रम पैदा हो गया। उसे लगा—सारा ब्रह्मांड काँप रहा है! अग्नि-ज्वालाएँ भी बहुत धड़ल्ले से प्रसारित होती जा रही थीं। शुकनारी सोचने लगी—'धिक् हो पुरुष के अस्थायी प्यार को···!' यह कहकर वह अति क्रोधित हो उठी। उसने जगदाधार श्री द्वारिकाधीश को प्रणाम किया। उनसे प्रार्थना की—'हे प्रभो इस जगत में मुझे एक समय अवतार दीजिए। मुझे किसी राजा की राजकुमारी बनाइये। क्योंकि पुरुष जाति का नेह सामयिक होता है इससे मैं समस्त पुरुष जाति का नाश करना चाहती हूँ! हे महाराज, साथ साथ मुझे इस जन्म की सारी स्मृतियाँ भी अगले अवतार में प्रदान करें! ···'यह कहकर वह अपने बच्चों के साथ भयंकर अग्नि ज्वालाओं में कूद पड़ी। क्षणभर में उन सबों की भस्म हो गई।···

इतने में शुक आ पहुँचा। उसकी चंचु में नदी का शीतोदक भरा हुआ था। किन्तु आकर वह क्या देखता है? सारे खानदान की भस्म ही केवल! वह अति करुण क्रंदन करने लगा। उसने सोचा—खानदान के बिना, भला मैं, इस जहाँ में कैसे रह सकता हूँ! सो वह भी ज्वाला में कूदा पड़ा। अपनी मृत्यु से पूर्व उसने ईश्वर से माँगा—'हे दयालु, मुझे अगले अवतार में भी वही नारी पत्नी के रूप में मिले···!'

शुक ने एक वणिक के घर जन्म लिया। शुकनारी कनकावती के राजा कामसेन के घर राजकुमारी होकर पैदा हुई। कामावती अत्यन्त स्वरूपवती, एवं गुण, कांति, लक्षण और उपमा से बिल्कुल अनूठी थी! किन्तु गत जन्म की स्मृतियाँ बनी रहने के कारण वह किसी भी योनि की नर-जाति का तुरन्त नाश कर देती थी! राजधानी के लोगों के कई लड़कों को उसने नष्ट कर दिया! शनैः शनैः नगर निवासी पुत्रविहीन होने लगे। चारों ओर उल्कापात हो उठा। प्रतिदिन वह हाथ में तलवार लेकर पुरुष जाति की खोज में सारे राजनगर में घूमने लगी। भेड़, बकरे, मेंढ़क, बिलाव, श्वान, बन्दर वग़ैरह उसके हत्थे चढ़ने लगे। नतीजा यह हुआ कि लोग राजनगर को छोड़ और किसी नगर में बसने चले जाने लगे। राजनगर प्रतिदिन खाली होने लगा। राजा को जब मालूम हुआ कि राजनगर प्रतिदिन खाली होता जा रहा है तो उसने अपने मंत्री से पूछा—'अब हम क्या करेंगे?' मंत्री ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'हे नृपश्रेष्ठ, कामावती के उल्कापात से नगर खाली होता जा रहा है। यदि आप कामावती को कैदखाने में बन्द कर दें तो लोग अपनी मिल्कत छोड़कर और कहीं जाना पसंद नहीं करेंगे।' राजा को मंत्री की बात

योग्य प्रतीत हुई। उसने कामावती से कहा—'बेटी, प्रतिदिन कालिका की पूजा के लिये राजमार्ग से होकर राजमन्दिर में मत जाया करो क्योंकि तुम नरजाति को मार डालती हो। इससे लोग नगर छोड़ कहीं और जगह चले जा रहे हैं! अब तुम प्रति आठवें दिन ही कालिका की पूजा के लिए जा सकोगी।' साथ साथ राजा ने यह भी बन्दोबस्त करा दिया कि राजकुमारी के निकलने से पूर्व सारे नगर में ढोल पिटाया जाय कि 'सब अपने घर में ही रहें···राजकुमारी पूजा के लिये निकल रही है!···'

मणिपुर नगर का राजा चित्रांगद था। उसकी कीर्ति चारों दिशाओं में फैली हुई थी। उसके ये दस रानियाँ थीं : जया, विजया, विमलनंदा, चंद्रवाना, सुलोचना, मेनका चंद्रावलि, चित्रसेना, लीलावती और कमला। सुलोचना प्रधान रानी थी। अत्यंत सुंदरी थी वह। राजा की सभा भी अत्यंत सुन्दर और विद्वानों से बनी हुई थी। उसके एक विचक्षण मंत्री भी था, जो प्रतिदिन उसकी राजगद्दी के समीप बैठा हुआ नज़र आता था। राजा बड़ा विद्या और संगीत प्रेमी था। इससे उसकी सभा में गंधर्व, भाट, चारण, और विद्वान ब्राह्मणों का एक खासा लंबा तांता रहता था। संगीत प्रियता के कारण उसकी सभा में, हर प्रहर, विविध प्रकार के वाद्य यंत्र बजते रहते थे। सुरांगनायें सुरबद्ध छंदों के साथ शुद्ध शास्त्रीय नृत्य किया करती थीं। चार अप्सरा-सी सुंदरियाँ चौबीसों घंटे राजा को वायु डालती रहती थीं।···

एक समय चित्रांगद अपनी प्रिय रानी सुलोचना के राजभवन में गया। उस दिन शरत्पूर्णिमा थी। शशी का शीतल तेज सारी सृष्टि पर छा गया था। चारों ओर की प्रकृति ने शीतल रूपहरे वस्त्र धारण कर लिए थे। आहिस्ता-आहिस्ता राजा और रानी के हृदय में मन्मथ प्रवेश करने लगा। राजा के गौर वर्णीय शरीर को देखकर सुलोचना के समस्त अङ्गों पर जैसे बिजली दौड़ने लगी। उसने तुरन्त ही राजा के समक्ष एक सुवर्णासन रखा। चित्रांगद सुवर्णासन पर बैठा। सुलोचना भी बिल्कुल उसके समीप बैठ गई। शरत्पूर्णिमा का शशी अपनी सोलह कलाओं को लेकर उन दोनों की प्रकट प्रेमचेष्टाएँ देखने लगा!···

बहुत रात्रि के बीत जाने के बाद दोनों बिस्तर पर पड़े। निद्रा में राजा ने एक स्वप्न देखा। एक सुन्दरी थी, उसकी कांति अति तेजस्वी थी, उसके लोचन मृग के लोचन-से थे। उसका क़द मियाना था। जूड़ा उसका मानों वासुकि नाग का बना हुआ था। उसकी वाणी से अमृतधारा बहती थी। वस्त्र उसके अति शोभित थे। हस्तों के बाजूबंधों से अत्तर की सौंगंध छूटती थी। झीनी कंचुकी से बद्धय युग्म स्तन प्रदेश आंखों को मोह-मूर्छित करते थे। उसके अधर अंबुज-से, नासिका शुक चंचु-सी, और दाँत सफेद थे। सर्वाङ्ग सुन्दर उस युवती की कटि अति पतली थी। मुख शरत्पूर्णिमा की भाँति दीप्तिमान् था। चित्रांगद स्वप्न में सुन्दरी के रूप पर अति मोहित हो उठा।

सुबह हुई। सूरज निकला, और आकाश में चढ़ने लगा। काफ़ी दिन बीत चुका। पर चित्रांगद की नींद समाप्त न हुई। और न तो स्वप्न की वह सुन्दरी भी हवा हो गई! आहिस्ता आहिस्ता राजा उस सुन्दरी के बिलकुल समीप गया। उसका सुन्दर हस्त उसने अपने हाथ में लिया। बोला—'हे सुन्दरी! तुम कौन

हो ? कहाँ से आई हो ? तेरे दर्शन से मेरे शरीर में काम ज्वर व्याप्त हो गया है। तुम मेरे साथ शादी करो। क्योंकि तुम्हारे उत्तुंग कुच–कलशों को दूर से ही देखकर मेरे हृदय में कामाग्नि की ज्वालाएँ जलने लगती हैं !'···

सुन्दरी ने जबाव दिया—'हे राजा, आप अपने मन को स्वस्थ रखिये। क्योंकि आप बड़े चतुर और शास्त्री हैं। मेरा नाम है कामावती। मैं सब की कामनाएँ पूरा करने का कार्य करती हूँ !'

राजा यों सुन्दरी के साथ स्वप्न में संभाषण कर रहा था कि उसका मंत्री वहाँ आ पहुँचा और उसे जगाने लगा। राजा नींद से जब जागा तो उसने स्वप्न की उस सुन्दरी को अदृश्य देखा। तुरन्त ही वह कुपित हो उठा। बोला—'हे पापी ! तुम मेरे मंत्री नहीं अपितु दुश्मन हो, क्योंकि निद्रावस्था में मैं जिस अनुपम रस का पान कर रहा था वह तुमने मुझे जगाकर अदृश्य कर दिया ! अब मैं क्या करूँ ? तुम्हें कोटि-कोटि धिक्कार हो।' यह कह कर राजा क्रंदन करने लगा। सुन्दरी के विरह के कारण उसकी एक एक पल पूरे महीने-सी भासित होने लगी। आखिर सुन्दरी का विरह उसे इतना असह्य हो गया कि वह तेग लेकर मन्त्री के सिर छेदन के लिये उसके पीछे दौड़ा। राजा का दुर्वासारूप देखकर मन्त्री ने नम्रतापूर्वक कहा—'हे नृप ,किसी ने सच ही कहा है कि काम मित्रता का नाश करता है ! मैं तो आपके हितार्थ आपको जगाने आया था। राजसभा में पंडित विद्वान, सब आपकी राह देख रहे थे !···'फिर भी राजा सुन्दरी को भूल नहीं सका। मन्त्री ने नृप के कर्त्तव्यों का ब्योरा देते हुए अपना वक्तव्य चालू रखा—'जो राजा अपने कार्यों में जागृत नहीं रहता है उसके राज का शीघ्रातिशीघ्र विनाश हो जाता है ! राजा को चाहिए कि बड़ी सुबह में उठकर अपने सद् कार्यो के लिये ईश्वर से प्रार्थना करें। राजा का प्रथम कर्त्तव्य होता है परमार्थ–स्वार्थ नहीं। गायों और विद्वानों पर आपत्ति के बादल आते ही वह उनकी रक्षा के लिये दौड़ता है। वह आनंदी होते हुए प्रतिक्षण सावधान रहता है। ज्ञानी और विचारक होता है। निराश्रितों को आश्रय देता है। शान्ति चाहता है। जिस राज में बलवान् निर्बलों का शोषण करता है वह राज शीघ्र ही समाप्त होने वाला होता है !···हे महेन्द्र ! दिन बहुत चढ़ जाने के बाद भी आप राजसभा में नहीं पधारे, इससे मुझे चिंता होने लगी। आप सोये हुए हों, और मौका पाकर किसी राज का लश्कर, कहीं से आकर, अप्रत्याशित, नगर पर धावा बोल दे तो हम क्या करें ?··· किन्तु आप तो जागृत होकर मेरे वध के वास्ते प्रवृत्त हुए ! मन्त्री का फर्ज होता है कि वह सोये हुए राजा को जाग्रत करे ! हमेशा याद रहे कि राज चलाता है राजा। किन्तु राज चलाने की बुद्धि राजा को प्रदान करता है मंत्री ! मंत्री के कर्त्तव्य के संबंध में यह एक कथा सुनाता हूँ, कृपया इसे गौर से सुनिये—

उत्तर प्रदेश में किसी जमाने में कर्णकुब्ज नामक एक सुन्दर नगर था। भोजदत्त नामक वहाँ का राजा था। उसकी कीर्ति चारों ओर फैली हुई थी। आसपास के महीमंडल में उसका अत्युत्तम शासन था। उसकी सेना खासी बड़ी एवम् शक्तिशाली थी। वह शास्त्रज्ञ था। उसके राजसभा भवन का विस्तार आठ मील का था ! उसके चारसौ मन्त्री थे। राजकार्य भी बड़े पैमाने पर और सुव्यवस्थित चलते थे। उसके हंसकेतु नामक एक

महा विलक्षण राजकुमार था। राजा और मन्त्री राजकुमार पर अत्यन्त प्रेम रखते थे।

एक दिन राजकुमार शिकार के लिये चला। साथ में अनन्त योद्धा भी थे। राजकुमार और योद्धाओं के अश्व जंगल की विकराल पगडंडियों पर दौड़ रहे थे। कुछ दूर जाते ही श्याम मृग, मृग, चित्ते: आदि दृष्टिगोचर हुये। राजकुमार और योद्धाओं ने शर-संधान किया, शरों को अपनी ओर देख सब पशु तितर-वितर होने लगे। योद्धे उनके पीछे दौड़ने लगे। नतीजा यह हुआ कि राजकुमार और योद्धे परस्पर से अलग हो गये। इतने में राजकुमार ने एक सिंह को देखा। वह उसके पीछे दौड़ा। किन्तु हैरानी की बात तो यह हुई कि सिंह तुरन्त अन्तर्ध्यान हो गया। बियाबान जंगल में अपने को एकाकी देख राजकुमार भयभीत हो उठा। वह श्रमित था, तृषित था, भूख भी लगती जा रही थी। वह चिंतित नज़र से चौदिशा में देखने लगा।

इतने में उसने कुछ दूर एक शिखर बद्ध मन्दिर देखा। वह अपने श्रमित अश्व को लेकर उस मन्दिर के समीप गया। वह एक सुन्दर शिवालय था। भीतर का शिवलिंग कई दिनों से अपूज पड़ा हुआ था। मन्दिर के चौगान में एक कूँआ भी था। राजकुमार ने प्रथम खूब पानी पिया, और स्नान किया। स्नान करके पूजा की। पूजा करके वह अतिश्रम के कारण, अपने अश्व को वृक्ष की एक डाली के साथ बाँधकर नीम वृक्ष की शीतल छाया में सो गया। कुछ देर के बाद जंगल में रहता एक अजगर वहाँ आ पहुँचा। सोते हुए राजकुमार को देख वह उसे निगलने लगा··· पाँव···कटि···छाती···। अब केवल राजकुमार का मुँह ही बाकी था! फिर भी राजकुमार नींद से जागा नहीं। इतने में उग्रसेन नामक मन्त्री राजकुमार को ढूंढता हुआ वहाँ आ पहुँचा। राजकुमार को अजगर के उदर में देख वह अति कुपित हो उठा। वह अपनी तलवार से अजगर के वध के लिये तत्पर हुआ।

परन्तु उग्रसेन ने जैसे ही खड्ग उठाया कि अजगर बोला—'हे मन्त्रीजी! ठहरिये, ठहरिये···प्रथम मेरी बात सुन लीजिये।' यह सुनकर मन्त्री हैरान रह गया। वह अजगर की बात सुनने के लिये तैयार हुआ। अजगर ने अपनी बात आरम्भ की—'मेरे मुँह में न तो विष है, न दाँत। क्योंकि एक शाप के कारण मुझे इस योनि में पैदा होना पड़ा है! गत जन्म में मेरी शिवशर्मा नामक एक विप्र से मित्रता थी। हम दोनों एक बियाबान जंगल में निवास करते थे। एकदा शिवशर्मा स्नान के उपरांत षट् कर्मों के लिये ध्यान-मग्न अवस्था में बैठा हुआ था। उस वक़्त मैं उसके घर पहुँचा। दुर्भाग्यवशात् मुझे उस समय एक दिल्लगी सूझी। मैंने एक रस्सी ली, और हास्य के साथ उस रस्सी को 'साँप!···साँप!···कहते हुए शिवशर्मा के ऊपर डाला। शिवशर्मा भीति के कारण ध्यानच्युत हो गया। ध्यानच्युत होते ही उसने देखा कि साँप की जगह एक बड़ी काली रस्सी है—तो वह अत्यन्त कुपित हुआ। क्रोध में ही उसने मुझे शाप दे दिया—'जाओ, तुम बड़े अरण्य में अजगर बनकर भटकते रहो!' मैंने रस्सी दिखाई थी इससे मेरे मुँह में जहर नहीं है। उस वक्त मैंने शिवशर्मा से प्रार्थना करते हुए कहा—'हे ब्रह्मा! शाप तो दिया किन्तु उसका निवारण भी बताइये।' शिवशर्मा ने जवाब दिया—'भोजदत्त का

पुत्र तेरे अरण्य में आयेगा। तुम उसे निगल जाओगे। उसी वक्त उग्रसेन नामक एक मन्त्री वहाँ आ पहुँचेगा। उसके स्पर्श-मात्र से तेरी मुक्ति हो जायेगी!'...

उग्रसेन के स्पर्श-मात्र से निर्विष अजगर ने ब्राह्मण-रूप धारण कर लिया। अब सोये हुये राजकुमार की क्या हालत हो गई थी—यह कहता हूं। उसने स्वप्न में एक सुंदरी देखी थी। वह अत्यन्त मोहक थी। उस सुंदरी ने पान का एक बीड़ा राजकुमार को प्रदान किया। राजकुमार ने बीड़ा ग्रहण करने के लिये जैसे ही अपना हाथ आगे बढ़ाया कि सुंदरी ने बीड़ा वाला अपना हाथ दूर हटा लिया। यह देखकर राजा ने पूछा—'हे सुंदरी! तुम अपना हाथ क्यों हटा लेती हो?' सुंदरी ने जवाब दिया—'हे राजकुमार मैं स्वयं अपने हाथ से आपके मुँह में पान का बीड़ा डालूंगी',...यह कहकर सुंदरी बीड़े को राजा के मुँह में डालने के लिये उद्यत हुई। बात यहाँ तक पहुँची थी कि उग्रसेन ने आकर उसे जगा दिया। राजकुमार जागा। उसका स्वप्न और सुंदरी दूर हो गई। सुन्दरी के अदृश्य होते ही राजकुमार भी कुपित हो उठा। उग्रसेन के सिर छेदने के लिये तलवार लेकर उसके पीछे दौड़ा। परन्तु उग्रसेन ने बहुत धीरे से कहा—'हे राजकुमार, आपको अजगर निगल गया था। इस तलवार के द्वारा मैंने आपका प्राण बचाया है!' यह सुनकर राजकुमार शांत हो गया। अपने रक्षक की ओर आभारवश दृष्टि से देखने लगा।'

कथा समाप्त करके मंत्री ने कहा—'उस कथा के अनुसार, हे नृप! राजा के लिये सोना अच्छा नहीं है।' राजा ने उत्तर देते हुए कहा—'मंत्रीजी, अब मैं शांत हो गया हूं। किन्तु मूल बात यह थी कि हँसकेतु की भाँति मैंने भी स्वप्न में एक सुन्दरी को देखा था। उसका नाम था कामावती।'

फिर दोनों राजसभा में आये। सब योद्धाओं ने खड़े होकर राजा को सन्मानित किया। राजा राजसिंहासन पर बैठा। राजसिंहासन—की दक्षिण की ओर मंत्री बैठा। इतने में एक विदेशी चारण उस सभा में आ पहुँचा। राजा को धन्यवाद देते हुए उसने कहा—'धन्य मणिपुर महाराज! धन्य आपका अवतार! मैं कई राज्यों में घूमता हुआ आ रहा हूं; किन्तु आपकी राजसभा तो बिलकुल अनुपम भाषित होती है। आपकी राज व्यवस्था भी सुन्दर होगी। मैं आपको शत् शत् धन्यवाद देता हूं।'

राजा ने पूछा—'सरस्वती पुत्र, आप कहाँ से आ रहे हैं?'

'मैं कनकावती नगरी से आ रहा हूं।'

'कनकावती यहाँ से कितनी दूर है?'

'यहाँ से कनकावती पहुँचने के वास्ते आठ मास लग जाता है। वहाँ कामसेन नामक एक राजा राज करता है। उसके कामावती नामक एक सुन्दरी सुना है। कनकवर्णीय कांति है उसकी, उसको देखते ही हृदय में तसल्ली अवतरित होती है। सचमुच, वह आपकी रानी बनने के क़ाबिल है। आपका रूप कामावती से ज़रा भी कम नहीं है। आपके दर्शन से मुझे कामावती की स्मृति हो उठती है।'

राजा ने एकांत में अपने मंत्री से कहा—'हे मंत्री, कोई भी उपाय से कामावती को

रानी के रूपमें मेरे सामने उपस्थित करो। विलंब करने का यह समय नहीं है।' मंत्री न उत्तर देते हुए कहा—'हे राजन्, आपकी तलवार मेरे हाथ में दे दीजिये। ईश्वर मेरी सहायता करेंगे।'

दूसरे दिन, सुबह, कनकावती से आया हुआ चारण और मंत्री कनकावती की ओर रवाना हुए। लगातार छः मास की यात्रा के बाद दोनों कनकावती नगरी के समीप आ पहुँचे। दूर से ही कनकावती की शोभा दृष्टिगोचर होने लगी।

चारण और मंत्री के चले जाने के बाद, इधर, राजा ने कामावती के लिये एक सुन्दर कनकमय राजमहालय बनवाया, और कामावती के आगमन की राह देखता हुआ दिन निर्गमन करने लगा। उसने अपनी सभी सुन्दर रानियों का मुँह देखना तक बंद कर दिया। बस, चौबीसों घंटे वह कामावती के नाम की माला जपने लगा। उसके सौंदर्य को बार-बार याद करने लगा।

कनकावती नगरी में एक मालिन रहती थी। शहर से अर्धयोजन दूर उसका अपना एक बग़ीचा था। किसी कारणवशात् उसका सारा बग़ीचा उजड़ा हुआ था। कुँए में चुल्लू भर भी पानी नहीं था। चारण के साथ कनकावती आया हुआ मंत्री, नगरी में प्रवेश करने से पूर्व, उस उजाड़ बग़ीचे में कुछ दिनों के लिये ठहरा। किन्तु हैरानी की बात तो यह हुई कि जैसे ही मंत्री ने बग़ीचे में कदम रखा कि तुरन्त, अरसेसे शुस्क बग़ीचा नवपल्लवित हो उठा। सारा कूँआ भी शीतल पानी से भर गया। वृक्षों पर नये पत्ते आ गये, पुष्प खिल उठे। पक्षी उन पर बैठकर अपने आनंद-तराने छेड़ने लगे। चारों ओर की प्रकृति ने आनंद-नृत्य आरंभ कर दिया! मानों बसंत ऋतु खुद आकर उस बग़ीचे में खेलने-कूदने-नृत्य करने लगी!...इतने में बग़ीचे की मालिन-मालकिन वहाँ आ पहुँची। बग़ीचे को परिवर्तित देख वह हैरान रह गई। ईश्वर से प्रार्थना करने लगी। इतने में उसकी नज़र एक घुड़सवार की ओर गई। घुड़सवार के पुण्य के कारण ही मेरा बग़ीचा नव-पल्लवित हो उठा है, यह समझ कर उसने घुड़ सवार को एक सुन्दर-सुगंधित पुष्पमाला समर्पित की। माला के ऐवज़ में मंत्री ने मालिन को एक सुवर्ण मुहर भेंट दी।

मालिन ने मंत्री से पूछा—'आप कहाँ से आ रहे हैं? और इस नगरी में आपको क्या काम है?' मंत्री ने मालिन से पूछा—'इस शहर का नाम क्या है? नगरी के राजा का नाम भी क्या है? राजा के कितनी संतानें हैं?'

मालिन ने जवाब दिया—'इस शहर का नाम है: कनकावती। राजा का नाम है: कामसेन। राजा के एक पुत्री है; नाम है: कामावती। वह है तो अति सुन्दर। किन्तु पुरुषाकार का नाश करती रहती है! कनकावती के कई पुरुषाकारों का उसने नाश कर दिया है। आजकल वह प्रति आठवें दिन ही अपनी चार सौ सहेलियों के साथ अंबिका के मंदिर में दर्शन के लिये जाया करती है! राजा एक दिन अगाऊ प्रजा को चेतावनी दिलाता है। इसलिए उस दिन कोई पुरुषाकार राजकुमारी के रास्ते में दृष्टिगोचर नहीं होता है!......'

यह सुनकर मंत्री ने सोचा—आठवें दिन के रोज़ कामावती कालिका मन्दिर में दर्शन के लिए निकलेगी तो हमारा कार्य सिद्ध होगा। उसने तुरन्त ही मालिन

से पूछा—'यदि आप इजाजत द तो मैं आपके घर कुछेक दिन रहना चहता हूँ।'

मालिन ने बड़ी खुशी के साथ उत्तर दिया—'मेरा घर आपका अपना ही समझिये। मैं भी आपकी दासी बनी रहूँगी। आप अवश्य मेरे घर ठहरिये।' मंत्री मालिन के घर गया। दिन बीतते रहे।

सातवें दिन की सुबह में राजा ने डांडी पीटवाई—'कल कामावती दर्शनार्थ जायेगी। कृपा करके कोई पुरुषाकार दिन भर घर से बाहर न निकले।···' यह सुनकर मंत्री ने सोचा—'वहाँ राजा चित्रांगद कामावती की स्मृति में पागल सा घूमता फिरता है। और यहाँ लोग उससे कितने डरते हैं? विधि की विचित्रता तो ही!······'

आठवें दिन मन्त्री बड़ी सुबह में, जब मालिन गहरी नींद में सोई हुई थी, घर से निकला, और कालिका के मन्दिर की ओर चला। कालिका की प्रार्थना करते हुए उसने कहा—'हे भगवती, कृपया कामावती को हमारे राजा की रानी बना दीजिये!······' मंत्री मन्दिर के भीतर गया, और भीतर से उसने प्रवेश द्वार बन्द कर दिये।

कुछ समय के बाद कामावती भी माता की पूजा के लिये मन्दिर की ओर आगे बढ़ी। साथ में चार सौ सहेलियाँ थीं। सभी के हाथों में पूजा की सामग्री से भरपूर कनकथाल शोभित थे। कामावती के एक हाथ में खुली तलवार, और एक हाथ में पूजा-थाल था! सारा नगर जन विहीन था·· डरावना। सब नारियाँ गीत गाती हुई मन्दिर पहुँची। मन्दिर जाकर कामावती ने द्वार खोलने का प्रयत्न किया। किन्तु द्वार कैसे खुल सकते थे। द्वार खुलता नहीं है—यह समझ कर एक सहेली ने कामावती से कहा—'कुमारी माता जी की प्रार्थना आरम्भ करो।' कामावती ने प्रार्थना आरम्भ की—'हे भगवती, आपकी बलिहारी है। आपकी कृपा से जगत चलता है। मुझसे कोई अपराध हो गया हो तो मआफ कर दीजिये। मुझे दर्शन दीजिये!···'

उत्तर में भीतर से मन्त्री ने कहा—'हे सुन्दरी! तुमने आज तक कई पुरुषाकारों का वध कर डाला है। मैं तेरे पाप से कुपित हो उठा हूँ। मैं तेरी-सी पापिनी का अब मुँह तक नहीं देखना चाहती हूँ······जाओ मैं द्वार नहीं खोलूंगी।···'यह कह कर मन्त्री भीतर उछलने-कूदने लगा। चंडी कुपित हो उठी हो इस तरह की तमाम चेष्टायें करने लगा। उसकी प्रतिध्वनियाँ सुनकर बाहर खड़ी कामावती और उसकी अन्य सहे-लियाँ काँपने लगीं। कामावती की तलवार भी नीचे गिर पड़ी। सब सहेलियाँ भी तन-मन की शुद्धि भूलने लगी। कामावती ने हाथ बाँधकर पुनः प्रार्थना आरम्भ की—'हे माताजी, आज तक के मेरे तमाम अपराधों को क्षमा कर दीजिये। अब से मैं अन्याय नहीं करुंगी। संतानें असंतानें हो जाती है किन्तु माता कभी अमाता नहीं हो पाती है। मेरा अपराध क्षमा कर दीजिये।

यह सुनकर चंडी ने उत्तर दिया—'हे सुन्दरी, मेरी सीख मानो। सब पुरुष शिव रूप हैं। और सब नारियाँ उभिया रूप! दोनों के मिलने से ही संसार चालू रहता

है। एक हाथ से ताली भी नहीं बजती है। किन्तु तुम तो पुरुषाकारों का नाश किये रहती हो! इससे तुम नर्क की अधिकारिणी बनती जा रही हो! यदि तुम पाप से छूटना चाहती हो तो मणिपुर के राजा चित्रांगद का मन्त्री इस नगर में आया हुआ है; उसके साथ चित्रांगद का खड्ग है, तुम उस खड्ग के साथ शादी करके मन्त्री के साथ मणिपुर चली जाओ; और चित्रांगद राजा की तथा पुरुषाकारों की सच्चे मन से सेवा करने लगो।...जब यह होगा तब में प्रसन्न होऊंगी, और दर्शन के लिये द्वार खोल दूंगी!...'

सुनकर कामावती ने कहा—'हे देवी! मैं आपकी आज्ञा के अनुसार कार्य करूँगी! उसके बाद कामावती अपनी सहेलियों के साथ राजमहल की ओर आगे बढ़ी।

कामावती अपने माता-पिता के पास जाकर बोली—'हे पिता, मैंने आज तक कई पाप किये हैं। उन पापों से छुटकारा पाने के लिये मेरी शादी करा दीजिये!...'

यह सुनकर उसके माता-पिता भी हैरान रह गये। जिस पुत्री ने पुरुषों को मार डालकर खून वाले हाथ तक नहीं धोये थे, वह आज शादी के लिये प्रार्थना करती हैं। क्या वजह होगी इसकी? राजा ने कामावती की एक सहेली से इस रहस्य का कारण जान लिया।

कुछ दिन के पश्चात् बुद्धिसागर कामसेन की सभा में आया। सुन्दर लक्षण वाले पुरुष को देखकर कामसेन अपने सभा सदस्यों के साथ बुद्धि सागर के सामने गया। उसकी पूरी आवभगत की। उच्च आसन पर उसे बिठाया। पूछा—'आप कहाँ से आ रहे है? और मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूं?' मन्त्री ने उत्तर दिया—'हे नृप, मैं मणिपुर नगर से आ रहा हूं। वहाँ के राजा चित्रांगद हैं। कुछ दिन पूर्व उनको एक स्वप्न आया था। स्वप्न में शक्ति माताजी ने उनसे कहा था—कनकावती के राजा कामसेन की राजकुमारी कामावती के साथ तुम जाकर शादी करो। राजा के इस खड्ग के साथ कामावती की शादी यथाशीघ्र कर दीजिये।' किसी ने जाकर कामावती को यह समाचार पहुँचाया। कामावती तुरन्त राजसभा में आ पहुंची। उसने अपते पिता से कहा—'इस खड्ग के साथ मेरा गांधर्व विवाह कर दीजिये!'...

कामावती के वचन सुनकर राजा ने तुरन्त मंडप तैयार कराया। खड्ग के साथ कामावती की शादी कर दी गई। चारों ओर जयजयकार की ध्वनि गूंज उठी। उसके बाद कामावती, मन्त्री, और कामसेन वग़ैरह कालिका के दर्शनार्थ मन्दिर गये मन्दिर के द्वार खुले ही थे!

इस ओर चित्रांगद को बड़ी चिन्ता होने लगी। मन्त्री का कोई समाचार आज तक न था। वह तो प्रतिदिन उदासीन रहने लगा। इतने में एक दिन नौकर ने आकर राजा से कहा—'हुजूर! मन्त्रीजी कामावती को लेकर आ पहुँचे हैं!' सुनकर राजा की खुशी की कोई सीमा न रही। उसने नौकर को बहुत चीजें भेंट देकर खुश किया। मन्त्री के आगमन की ख़बर देखते ही देखते सारे नगर में फैल गई। लोग कामावती के दर्शनार्थ जाने लगे।

अति आनंद से राजा ने एक जलूस निकाला। ऐसे सुन्दर कार्य के लिये राजा ने मन्त्री को भी बहुत भेंट दी। मन्त्री ने राजा से पूछा—'हे नृप मैं कामावती के निवास स्थान की क्या व्यवस्था करूँ?' राजा ने उत्तर दिया—'मैंने कामावती के लिये कनकमय महालय तय्यार करवा रखा है। उसमें उसे स्थान दीजिये।' कनक महालयों में नौ खंड थे। अपार द्वार और खिड़कियाँ थीं। कामावती उस महल में रहने लगी।

इस ओर चित्रांगद की रानियाँ इकट्ठा होकर सोचने लगीं—'अब हम क्या करें? कामावती के आगमनके कारण अब हमारा महत्त्व नहीं रहेगा। इसलिये हमारे सन्मान के बने रहने के लिये कुछ उपाय करना चाहिये।' एक रानी ने बड़ी रानी सुलोचना से कहा—'बहिन तुम बड़ी हो। उपरांत तुम्हारी बुद्धि भी खासी अच्छी है। सो उपाय बताइये।' सुलोचना ने उत्तर दिया—'हम बारह रानियाँ इकट्ठा होकर किसी न किसी उपाय से राजा को हमारे जनानाखाने में एक-एक साल रुके रखें। बारह साल यूँ ही बीत जायेंगे। कामावती इससे उब जाएगी। उसके बाद और उपाय ढूंढ लेंगी।'

परन्तु ईश्वर की इच्छा तो और ही थी। मानव सोचता है कुछ और ईश्वर करता है कुछ! और इसी का नाम है जगत।

शाम होते ही राजा तो चला कामावती के महालय की ओर। किन्तु रास्ते में एक आश्चर्यजनक घटना घट गई। सड़क पर ही एक अद्भुत सुन्दरी खड़ी थी। उसने राजा को एकदम उठा लिया। राजा को उठाते ही उस सुन्दरी के शरीर में बड़ी-बड़ी पंखें फूटीं। सुन्दरी तो राजा को लेकर एक बियाबान अरण्य मे जा पहुँची। सुन्दरी के जादू के कारण राजा तो जंगल में वे बेशुद्धावस्था में बारह सालों तक पड़ा रहा। बारह सालों के बाद उसी जादुई सुन्दरी ने राजा को उठाकर पुन: सुलोचना के महालय के पास खड़ा कर दिया!

सुलोचना अपने नृपपति को देखकर विलाप और मिन्नतें करने लगी—'हे स्वामी, बारह-बारह सालों से मैंने आपका दर्शन तक नहीं किया है। आपने तो बिल्कुल ही माया उतार दी। कामावती में ऐसा क्या भर रक्खा है कि आप वहीं पड़े रहते हैं?' 'कामावती' के नामोच्चार सुनते ही राजा को पुन: कामावती की स्मृति हो उठी। वह तुरन्त ही दौड़ता हुआ अपने राजमहालय में गया। एक नौकर के द्वारा उसने कामावती से कहला भेजा—'कामावती से जाकर कह दो कि राजा आ रहा है आपको बाहुपाश में लेने।' नौकर ने जाकर कामावती से राजा का संदेसा कहा। किन्तु कामावती तो बारह सालों के एकान्तवास से कुपित हो उठी थी। उसने नौकर से कह दिया—'जाओ, तुम्हारे राजा को कह दो कि कामावती तुम्हारो रानी नहीं, किन्तु बहन है। सो कामावती के महालय पर पधारने की कोई जरूरत नहीं है।' नौकर तो राजा के पास पहुँचा और कहने लगा—'हजूर! कामावती तो आपके ऊपर अत्यन्त कुपित हुई है। आप को अपना भाई समझती है।' यह सुनकर राजा अति क्रोधित हो उठा। उसने तुरन्त ही अपने मन्त्री को बुलावा भेजा। मन्त्री आया तो राजा ने कहा—'मन्त्रीजी, कामावती मुझे नहीं चाहिये। वह तो चंडालिका है। उसे कनक महालय से निकाल कर किसी और मकान में रखें, और उस मकान के

इर्दगिर्द कड़ा पहरा लगादें।' मन्त्री ने कामावती को एक छोटे-से मकान में बन्द करवा दिया। कड़ा पहरा भी लगा दिया। चार-पाँच सिपाही उस मकान के इर्दगिर्द चक्कर काटने लगे! इस तरह कई महीनों बीत गये।

एक दिन मणिपुर बन्दरगाह में नौ जहाज़ आये। जहाज कर्णराय के थे। वह खूब धनवान था। उसके नौकर-चाकर भी कई थे। कामावती के मकान के समीप से गुजरते वक्त उसने एक सिपाही से पूछा—'इस मकान में कौन रहते हैं?' सिपाही ने जबाव दिया—'इसमें अति स्वरूपवती कामावती रहा करती है। वह राजा की रानी है। किन्तु राजा अब उसे बेच डालना चाहते हैं!...' कर्णराय तो क्वारा था। वह सीधा पहुँचा राजा के पास उसने राजा से कामावती की कीमत पूछी। कीमत के लिये राजा ने अपने मन्त्री से पूछा—'मन्त्री इस महाशय को कामावती की कीमत कहिये।' मन्त्री ने कहा—'हमारे राजमहालय में एक खाली कूँआ है। उस कूँये को सुवर्ण मुद्रिकाओं से भर दो, और कामावती को ले जाओ।' यह सुनकर कर्णराय ने कहा—'शर्त कुबूल करने से पूर्व मैं कामावती को देखना चाहता हूँ!'

एक नौकर कर्णराय को कामावती के पास ले चला। कर्णराय ने कामावती से कहा—'हे सुन्दरी, मैं तुम्हारे साथ शादी करना चाहता हूँ; क्योंकि ईश्वर की यही इच्छा है।' यह सुनकर कामावती अत्यन्त राजी हो उठी। उसने तुरन्त 'हाँ' कह दिया। फिर कर्णराय ने मन्त्री की शर्त के अनुसार कूँआ सोने से भर दिया। किन्तु यह करने से वह बिल्कुल ग़रीब हो गया! मन्त्री ने कामावती को कर्णराय के सुपर्द कर दिया!

दोनों अपने नगर की ओर चल पड़े। खूब चलने पर कर्णराय को तृषा लगी। इतने में एक तालाब दृष्टिगोचर हुआ। दोनों ने वहाँ जाकर जल पिया। जल पीकर एक वृक्ष की छांई में आरामार्थ दोनों बैठे। आराम के वक्त कर्णराय को विचार आने लगे—कामावती एक राजकुमारी है। मैं उसे सुखी कैसे कर सकूँगा।' कामावती अपने पति के मुख-भावों से समझ गई कि वह चिन्ता कर रहे हैं, तो बोली—'हे नाथ, आप चिन्ता मत करिये। मेरे पास तमाम सुविधायें है।' कुछ दिनों के पश्चात् दोनों पाटणपुर पहुँचे। वहाँ रहने लगे। कामावती ने अपने पास रखी हुई कई सुवर्ण मुद्रिकाएँ कर्णराय को दीं, और कहा—'आप एक सुन्दर मकान किराये पर रख लीजिये। दो नौकर और एक घोड़ा का भी इन्तजाम कर लीजिये।' कर्णराय ने कामावती के कथनानुसार तमाम व्यवस्था कर दी। दोनों आनन्द से दिन निर्गमन करने लगे। कामावती ने अपने कायमी खर्च के लिये एक योजना तैयार की। कर्णराय के द्वारा उसने एक दिन आठ गज सफेद कपड़ा मँगाया। भाँति भाँति के रंग का सूत, तथा कीमती मोती भी मँगाये। वह सफ़ेद कपड़े पर कलापूर्ण ढंग से कशीदा काढ़ने लगी। एक साल की सतत मिहनत और कलापूर्ण दृष्टि के बाद उसने सुन्दर कशीदा काढ़ लिया। कशीदा-पट कर्णराय के सुपर्द करते हुये कामावती ने कहा—'हे नाथ, इसे लेकर बाजार जाओ, और बेच डालो। सवालाख रुपये इसकी क़ीमत है।' कर्णराय तो कशीदा-पट लेकर बाजार में गया। लोग कशीदा-पट देखकर हैरान रह गये। 'धन्य-धन्य' की ध्वनियाँ चारों ओर गूंजने लगीं।

इतने में उस नगर के राजा का मन्त्री वहाँ से होकर निकला। उसने कशीदा-पट

देखा, और देखते ही हैरान रह गया। आज तक वैसा कशीदा-पट उसने कहीं देखा न था। उसने कर्णराय से उसकी क़ीमत पूछी --'महानुभाव, क्या है क़ीमत इसकी ?' 'सवालाख रुपये !' मन्त्री ने तुरन्त ही सवालाख रुपये दे दिये। कशीदा-पट अपने शरीर पर ओढ़ कर वह राजा के पास गया। राजा भी देखकर हैरान रह गया। सारी राजसभा हैरान रह गई। रानियाँ हैरान रह गईं। सब हैरान रह गये। कशीदा-पट की सर्वत्र जय जयकार बोलने लगी। राजा ने मन्त्री से पूछा—'हे मन्त्री कशीदा-पट देखकर मैं इसके काढ़ने वाली की कलापूर्ण अंगुलियों की कल्पना कर सकता हूं। वह अति स्वरूपवती भी होगी। क्योंकि सौंदर्य ही सौंदर्य का सर्जन कर सकता है ! कला ही कला को पैदा कर सकती है ! ···मैं, चाहे जो भी हो जाये, उस स्त्री को अपनी रानी बनाऊँगा। जाओ, वह कहाँ रहती है—उसका पता लगाओ।'

मंत्री नगर भर में कर्णराय को ढूँढ़ता हुआ फिरने लगा। किन्तु उसका कहीं पता न चला। मंत्री को कर्णराय का पता न चला, इससे वह साधू हो गया ! मन्त्री का मुँह लेकर वह राजा के पास कैसे जा सकता था !···

कामावती पुनः कशीदा काढ़ने लगी—प्रथम से अपूर्व और सुन्दर। कला उसमें नृत्य करने लगी। बसंत, बसंत राग गाने लगी। मानों वह कशीदा नहीं, परन्तु उसमें स्वर्ग खड़ा होता जा रहा है। प्रतिक्षण···प्रतिपल···विपल···निमिष !···

पूरे एक वर्ष के बाद कामावती ने कशीदा-पट कर्णराय के सुपूर्द करते हुये कहा—'हे नाथ, जाओ इसे बेच डालो। क़ीमत है ढाई लाख मुद्रिकाएँ !' कर्णराय पुनः बाजार में आया। लोग अधिक दंग रह गये। चारों ओर 'कलाकी जय' नारे गूंज उठे। यह सुनकर मन्त्री—साधू वहाँ आया। वह कर्णराय को राजा के पास ले चला !

मन्त्री ने राजा से कहा—'हे नृप, यह उसी नारी का पति है जो कशीदा काढ़ने में पारंगत है।' यह सुनकर राजा ने कर्णराय की खूब आव भगत की। बात ही बात में पूछ लिया कि इस नगरी में आप कहाँ पर रहते हैं। कुछ देर के बाद राजा की दृष्टि कर्णराय की एक सुन्दर अंगूठी पर पड़ी। उस अंगूठी में नीलमणि की प्रभा निखर हो उठी थी। राजा अंगूठी देखकर पागल-सा हो उठा। उसने कर्णराय से वह अंगूठी देखने के लिये माँगी—'मैं कुछ देर के लिये इसे देखता हूँ। आप मेरे खजानची के साथ जाकर आपके कशीदे-पट की कीमत ले लीजिये। फिर यहाँ आइये। आप यहां आयेंगे तो यह अंगूठी आपके सुपूर्द कर दूँगा।'

कर्णराय 'कोई उज्र नहीं' कहते हुए खजानची के साथ चल दिया। इस दरमियान राजा ने अपनी नौकरानी को वह अंगूठी दी। उसके कान में कुछ बातें कीं। कुछ देर के बाद वह नौकरानी कामावती के निवास स्थान की ओर चल दी।

नौकरानी ने जाकर कामावती से कहा—'साहिबा, आपके पति राजा के मन्त्री बना लिये गये हैं। उस उत्सव में शामिल होने के लिये चलिए राजमहालय।' किन्तु कामावती तो बड़ी होशियार थी। उसने उत्तर दिया—'मैं वैसे नहीं आ सकती हूँ। कर्णराय

की निशानी यदि आपके पास हो तो मैं आने को तय्यार हूँ।' कामावती की बात सुनकर नौकरानी बहुत खुश हुई। उसने तुरन्त कर्णराय की अंगूठी दिखाई। कामावती तुरन्त दासी के साथ राजमहालय जाने को चली।

कामावती राजमहालय में दाखिल हुई कि तुरन्त राजा के कुछ सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया। एक गुप्त महालय में उसे बन्द कर दिया गया। कामावती केवल यही बोल सकी—'दगा हुई ! ···' कामावती राजमहालय में दाखिल हुई कि तुरन्त कर्णराय को महालय से बाहर निकाल दिया गया। वह भी बात समझ गया। दौड़ा हुआ वह घर पहुँचा तो वहाँ 'लोक' था। वह तो पागल-सा होकर 'कामावती ! ······कामावती ! ······ कामावती ! ······' कहने लगा। पागलावस्था में सारे नगर में घूमने लगा। लोग उसे 'पागल' कहकर चिढ़ाने लगे। बच्चे 'ऐ···का···मा···व···ती !' कहकर उसे हैरान-परेशान करने लगे ! ······कर्णराय ने करीब पागलवस्था में तीन महीने बिता दिये।

राजा कामावती के पास गुप्त राजमहालय में गया। राजा ने कामावती से कहा—'मैं तुम्हारी कला पर मोहित हो उठा हूँ। और तुझे अपनी रानी बनाना चाहता हूँ !' कामावती तो बड़ी होशियार थी। उसने सोचा—'अब राजा के चंगुल में से जल्द ही मेरा छुटकारा होने वाला नहीं है। सो उसको राजी रखने में ही मजा है।' सोचकर कामावती ने राजा से कहा—'हे प्रिये ! आजकल मैं एक मंगल व्रत कर रही हूँ। छः महीने के बाद वह व्रत पूरा होने वाला है। उसके बाद ही मैं आपके साथ शादी करूँगी।' राजा ने कामावती के शब्दों पर विश्वास प्रकट किया। वह वहाँ से चला गया। छः महीने की समाप्ति की राह देखने लगा। गुप्त महालय के आस पास राजा ने चौकी पहेरा लगा दिया।

कामावती कर्णराय के विरह के कारण भूखी रहने लगी। उसकी काया प्रतिदिन सुर्ख होने लगी। उसका आनन्द कहीं डूब गया। उसका यौवन भी आहिस्ता आहिस्ता विदा होने लगा।

एक दिन वह राजमहालय के झरोखे से देख रही थी कि उसकी दृष्टि एक पागल पुरुष के ऊपर पड़ी। वह कर्णराय था। कामावती भी उसे पहचान गई। उसका यौवन खिल उठा। वह आनन्द नृत्य में डूब गई। हर्षावेश में उसने एक कागज़ लिया। उसमें लिखा :—

नाथ !

राजा की दगा से मैं इस गुप्त राजमहालय में रहती हूँ। बहुत दुःखी हूँ। छुटकारा पाकर आपके बाहुपाश में आना चाहती हूँ। अपने छुटकारे के लिये आपको एक उपाय बताती हूँ। आज रात्रि को आप एक घोड़ा मेरे महल के नीचे रखिये। मैं रस्सी के ज़रिये ऊपर से नीचे उतरूँगी, और घोड़े पर सवार होकर हम दोनों जल्दी से इस नगर को छोड़ जायेंगे।

भूलें नहीं...आज मध्यरात्रि...!

गृह स्वामिनी (!)
—कामावती के नमस्ते।

उसने वह पत्र पागल पुरुष की ओर फैंका। कर्णराय ने पत्र पढ़ लिया। वह हर्षित होकर नाचने-कूदने लगा। मध्यरात्रि की राह देखने लगा। अर्ध रात्रि को वह एक घोड़ा लेकर गुप्त राजमहालय के नीचे खड़ा रहा। अंधेरा खूब था। कामावती एक रस्सी की मदद से नीचे उतरी। किन्तु घनघोर अँधेरे का एक चोर ने गैरलाभ उठाया। जैसे ही कामावती नीचे उतर कर घोड़े पर बैठी कि चोर घोड़ा और कामावती को लेकर भागा। कर्णराय तो अँधेरे में कामावती की राह देखने लगा। इधर कामावती भी भ्रम में थी कि मैं कर्णराय के साथ नगर को छोड़े जा रही हूँ। कामावती हर्ष में आकर विनोदार्थ अपने पति से पहेलियाँ पूछती जा रही है। चोर कामावती की पहेलियाँ बूझता जा रहा है—

१. चार पंखें, एक फल, फल खाने से मृत्यु हो;
नारी बिना नहीं चलत, वह चीज़ है कौन ?
उत्तर—तीर कमान।

२. चार चरन, दो कान, कायम खुले दाँत;
एक बाँस भर है ऊँचा, कहिये, वह चीज़ कौन ?
उत्तर—हाथी।

३. बिना पानी से पैदा होता है, पानी से मर जाये;
देश-विदेश में घूमता-रहता, वह चीज़ है कौन ?
उत्तर—कागज़।

४. प्रथम निकलती है चोटी, फिर आवत हैं दाँत;
भीतर है पानी बँधा हुआ, वह चीज़ है कौन ?
उत्तर—श्रीफल।

५. नर से नर पैदा हो, उसमें चारों ओर उजाला;
अनुपस्थिति में अँधेरा बने, वह चीज़ है कौन ?
उत्तर—दीपक।

६. तालाब सूखा हुआ, फिर भी जल उसका विमल;
भीतर कमल ही कमल: वह चीज़ है कौन ?
उत्तर—शीशा। आरीसा। दर्पण।

७. दो मुख हैं उस नारी के, दो नर उसे ग्रहंत;
दो नर को बंधन करे: वह चीज़ है कौन ?
उत्तर—चोली। ब्लाउज।

८. नारी ने नारी को निगला, शोभा बड़ी दीसंत;
तीन अक्षरों का नाम है: वह चीज़ है कौन ?
उत्तर—अँगूठी।

इतने में शुक्र का उदय हुआ। चारों ओर की प्रकृति तेजस्वी होने लगी। अँधकार को प्रकाश निगलने लगा। प्रकाश के कारण कामावती ने घोड़े पर, पर-पुरुष को देखा! वह भयभीत हो उठी। उसने भयभीत स्वर से चोर से पूछा—'हे मानव, तुम कौन हो; और मुझे कहाँ ले चलते हो?' चोर ने कहा—'सुन्दरी, मैं तेरे रूप से मोहित हो उठा हूँ। में तुझे पत्नी बनाऊँगा।' यह सुनकर कामावती सोच-विचार में पड़ गई। सोचा—यह भी एक और विपत्ति आ पड़ी। इससे भी मार्ग निकालना होगा। कुछ देर के बाद उसने चोर से कहा—'में भी आपकी पत्नी बनकर सुखी बनूँगी। किन्तु बताइये कि आपका नगर यहाँ से कितनी दूर है?'

'तीन मील!'

'अच्छा तो यह करो कि तुम अपने नगर में जाकर सगे रिश्तेदारों के जलूस के साथ तथा मंगल वाद्यों के साथ मुझे लेने आइयो। मै नये कपड़े पहनकर इस वृक्ष के तले बैठी हूँ। आप जल्दी आ जाइयो।' चोर तो यह सुनकर खुशी खुशी हो उठा। वह दौड़ता हुआ अपने नगर में चला गया। चोर अदृश्य होते ही कामावती घोड़े पर बैठ गई। बड़ी धड़ल्ले से वह एक बियाबान अरण्य में जा पहुँची। अब यहाँ कोई भीति नहीं है: यह समझकर वह शनै: शनै: घोड़े को चलाती हुई चली जा रही थी।

सामने से दो युवा राजकुँवर चले आ रहे थे। उन्होंने सुन्दरी कामावती को देखा। देख के दोनों हैरान रह गये। दोनों मन ही मन सोचने लगे — इसे मैं अपनी रानी बनाऊँगा। कुछ देर के बाद बड़े ने छोटे से कहा—'भाई, इस सुन्दरी को मैं अपनी रानी बनाना चाहता हूँ।'

यह सुनकर छोटे ने कुपित स्वरों में कहा—'नहीं, यह हरगीज नहीं हो सकता है! यह मेरी रानी बनेगी!'

दोनों में झगड़ा हो गया—कामावती के कारण। कामावती यह देखकर मन ही मन हँसने लगी। उसने सोचा—'उन्हीं को भी लंबी आशा देनी होगी...और छुटकारा पाना होगा! हर-एक की रानी बनती फिरूँ तो मेरी हालत क्या हो जायेगी!...'

कामावती ने दोनों से कहा—'झगड़िये मत। मैं भी आपके से किसी राजकुमार को ढूंढ़ रही थी। किन्तु मेरे साथ वह ही शादी कर सकेगा जो मेरी शर्त को पूरा कर सकेंगे!' यह सुनकर दोनों एक साथ बोल उठे—'क्या शर्त है आपकी?' कामावती ने

दोनों राजकुमारों से एक एक तीर लिया । दोनों को परस्पर विरुद्ध दिशाओं में फेंका । फिर राजकुमारों से कहा—'जो राजकुमार तीर लेकर मेरे पास प्रथम आ पहुँचेगा उसके साथ ही मैं शादी करूँगी ।' यह सुनकर दोनों राजकुमार करीब शुद्धि भूलकर तीरों की ओर दौड़े । तीर बहुत दूर फेंके हुए थे ।

कामावती तो घोड़े पर सवार होकर शीघ्रता से वहाँ से भाग छूटी । सतत चार-पाँच घंटों की घुड़ दौड़ के बाद वह एक तालाब के किनारे जा पहुँची । उसने शांति से स्नान किया । स्नान के बाद उसने सोचा— 'स्त्री के वेश में रहने से तकलीफों की परंपराएँ सहन करनी होंगी । इससे अच्छा होगा कि मैं पुरुष का स्वांग धारण कर लूँ ।' उसने तुरन्त ही पुरुष वेश धारण कर लिया । घोड़े पर सवार होकर वह आगे बढ़ी ।

वह श्रीरंगपट्टम् पहुँची । यहाँ का राजा उग्रसेन था । वह अति वृद्ध हो गया था । उसके चन्द्रमति नामक एक राजकुमारी थी । उग्रसेन के एक मन्त्री था । उसके भी प्रेमावती नामक एक पुत्री थी । दोनों बड़ी हो चुकी थीं । दोनों के पिता वर की शोध कर रहे थे ।

कामावती ने नगर में प्रवेश किया । सामने से मन्त्री चला आ रहा था । उसने घोड़े पर आते हुए राजकुमार को देखा । मन्त्री ने उसके पास जाकर प्रणाम किया । फिर उस राजकुमार को वह राजा के पास ले चला । राजा भी सुन्दर राजकुमार देखकर हर्षित हो उठा । उसने राजकुमार की एक प्रकार विशेष आवभगत की ।

कुछ देर के बाद राजा ने राजकुमार से पूछा—'हे राजकुमार, आप कहाँ से आ रहे हैं ? आपका नाम क्या है ?'

राजकुमार ने उत्तर दिया—'मैं कनकावती से आ रहा हूँ । मेरे पिता कामसेन राजा हैं । मेरा नाम है कामकुँवर । मैं शिकारार्थ गया हुआ था । रास्ता भूल गया । इधर चला आया ।'

राजा तथा मन्त्री की लड़कियों के साथ कामकुँवर की शादी हो गई । उग्रसेन वृद्ध हो चला था । इसलिये कामकुँवर को राजगद्दी सौंपकर वह और मन्त्री जिंदगी के कल्याणार्थ जंगल में चले गये । कामकुँवर राज करने लगा । लोकप्रिय होता चला । एक दिन उसने अपनी दोनों पत्नियों से कहा—'हे सुन्दरियो ! आप दोनों के सद्गुणों की कोई सीमा नहीं है । आप शीलवती हैं । आजकल मैं एक महाव्रत कर रहा हूँ । आप धीरज रखें । एकाध साल मेरे पास आने का कष्ट न करें । जब मैं बुलाऊँगा, तभी आप मेरे पास आइयेगा ।'...

दोनों रानियाँ हाँ कह कर और प्रणाम करके चली गईं ।

कामकुँवर ने एक रात्रि को कुछ विचार किया । दूसरे दिन उसने अपने मन्त्री से कहा—'मन्त्री जी, सारे नगर में जितने शिल्पकार रहते हों उन सबों को कल मेरे सामने उपस्थित करने का प्रबन्ध करो ।' मन्त्री प्रणाम करके चला गया ।

दूसरे दिन कामकुँवर के सामने नगर के कई शिल्पकार खड़े थे। राजा ने उन सबसे कहा—'आप सब में से चार ही कलाकार की मुझे जरूरत है जो हूबहू शिल्प बना सकने में काबिल हों। चार ही ठहरिये·········और बाकी के खुशी से जा सकते हैं।···'

उत्कृष्ट चार कलाकारों से राजा ने कहा—'आप चारों मिलकर एक ऐसी नारी का सर्जन करें, जिसका रूप जिसकी आकृति, जिसकी ऊँचाई हूबहू मेरी हो।······लोग शिल्प देखकर मेरा ही नारी संस्करण समझें···। तो करने लगो शिल्प काम।···'

शिल्पकार कुछ दिनों में पुतला बना कर हाजिर हुये। राजा ने पुतले पर नाम लिखाया : 'कामावती !' फिर उस पुतले को नगर के दरवाजे पर लगा दिया। लोग कामावती के पुतले को देखकर हैरान रह गये। कामावती के पुतले की बात दूर दूर तक फैल गई। दूर दूर के लोग कामावती के पुतले को देखने आने लगे। श्रीरंगपट्टम एक तीर्थ धाम-सा हो गया।

इस ओर उजाला होते ही कर्णराय ने घोड़े और कामावती को अदृश्य देखा। उसने सोचा—दगा हुई। वह पागल-सा होकर नगर में भटकता ही रहा। उस नगर के राजा को भी आशा थी कि कामावती छः मास के बाद मेरी रानी बनेगी। किन्तु जब उसे पता चला कि कामावती का हरण हो गया तो वह पागल-सा होकर 'कामावती···कामावती।···' की माला जपने लगा। चोर जब अपने सगे रिश्तेदारों का जलूस लेकर उस वृक्ष के पास गया तो कामावती वहाँ नहीं थी। वह भी पागल हो गया। वे दोनों राजकुमार भी जब तीर लेकर वापिस आये तो उन्होंने भी कामावती को अदृश्य देखा। वे दोनों भी पागल बन गये।

पाँचों पागल एक ही नगरी में रहकर 'कामावती !···कामावती !···' कहते हुए यत्र-तत्र घूमने लगे। लोग पाँचों पागलों को एक ही लक्ष्य के द्वारा पागल बने देख उनकी हँसी उड़ाने लगे। बच्चों की एक खासी बड़ी टोली उनके पीछे दौड़ने लगी।···

कामावती के पुतले को देख आये हुए एक आदमी ने उन पाँचों से कहा—भाइयो ! कामावती······कामावती !······कहते हुए यहाँ क्यों दुखी होते हो। कामावती को देखना हो तो श्रीरंगपट्टम् जाइयो। पाँचों पागल श्रीरंगपट्टम् पहुँचे।

कामावती को देखकर राजा ने कहा—'मुझे छोड़कर क्यों चली आई ? चोर ने तथा उन दोनों राजकुमारों ने भी यही कहा। कर्णराय तो पुतला देखकर रोने ही लगा। वह एक भी शब्द बोल नहीं सका।

पाँचों पागलों को सिपाही कामकुँवर के पास ले चला। पाँचों को देखकर कामकुँवर खूब खुशी हुआ। अपने प्रयोग की सफलता का आनन्द भी उसमें शामिल था।

कामकुँवर ने पागल राजा से पूछा—'भई, तुम कामावती···कामावती क्यों करते रहते हो ?' राजा ने अपना पूरा बयान दिया। यह सुनकर कामकुँवर ने कहा—'राजन्, तुम अपना धर्म भूल गये हो। इसका पश्चात्ताप करो। जाओ, शांति से राजकाज चलाओ।' पागल राजा निराश होकर चला गया। फिर दोनों राजकुमारों से भी कामकुँवर

ने पूछा—'तुम दोनों क्यों 'कामावती कामावती !' पुकारते हो ?' उन दोनों ने भी अपना बयान दिया । कामकुँवर ने उन दोनों को समझाकर वापिस लौटा दिया । फिर चोर से भी यही पूछा । चोर को भी अपना फर्ज दिखाकर रवाना कर दिया ।

बाकी रहा कर्णराय । कामकुंवर के रूप में रही कामावती अब समझ गई कि यह हैं मेरे पति ! उसने उनको स्नान करवाया, भोजन कराया, शांति से सब बातें कहीं ।

कर्णराय तो यह सुनकर हर्षोन्मत्त हो उठा ।

कामकुँवर ने अपनी दोनों पत्नियों को बुलाकर उनसे कहा—'यह हैं हमारे पति ! और फिर उन दोनों को सारी बात कह सुनाई । दोनों पत्नियाँ राजी हो उठीं ।

तीनों की सेवा स्वीकार करता हुआ कर्णराय दूसरे दिन कामकुँवर की गद्दी पर बैठा । सारी नगरी में आनन्द लहरियाँ उड़ने लगीं ।

चारों आनन्द से रहने लगे । प्रजा को सुखी करने लगे ।

—श्री शान्ति आँकड़ियाकर

टिप्पणी—३

श्री रंगजी के मन्दिर के हस्तलिखित ग्रंथ

वृन्दावन का रंगजी का मन्दिर कोई बहुत प्राचीन मन्दिर नहीं है : लगभग १०० वर्ष या कुछ अधिक पहले इस मन्दिर का निर्माण हुआ था। निर्माता ने यह मन्दिर श्री रंगाचार्य जी को भेंट किया और रामानुज संप्रदाय की पूजा-पद्धति इसमें स्थापित की गई। आल्वार भक्तों की मूर्तियाँ और उनका साहित्य (प्रबन्धम्) मन्दिर में उपलब्ध हैं। 'प्रबन्धम्' की अनेक प्राचीन प्रतियाँ, तमिल भाषा में यहाँ आज भी सुरक्षित हैं। अधिकांशत: ये प्रतियाँ ताड़-पत्रों पर अंकित हैं। जहाँ तमिल साहित्य और दक्षिण-परम्परा की पूजा-पद्धति प्रचलित है, उस रंग जी के मन्दिर में कुछ हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकें भी हो सकती हैं, यह पहले नहीं सोचा गया। अब की बार कुछ हस्तलिखित पुस्तकें वहाँ के रंगलक्ष्मी पुस्तकालय मे देखने को मिलीं। इनके विषय में पुस्तकाध्यक्ष ने बताया कि किसी महाशय ने ये पुस्तकें पुस्तकालय को भेंट-स्वरूप दी थीं। इन पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

हिन्दी के ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ उर्दू, फ़ारसी के ग्रन्थों की भी हस्तलिखित प्रतियाँ इस पुस्तकालय में हैं। इनमें से कुछ का निश्चित ऐतिहासिक महत्त्व है। उर्दू फ़ारसी की निम्नलिखित हस्तलिखित पुस्तकें इसमें हैं—

१—किताबए मालरोज़मर्रा
२—अशआर गुलिस्ताँ : रचयिता शेखसादी
३—गुलिस्ताँ ८ बाव : ,,
४—इख़लाक मोइसिनी : ,,
५—मीना बाज़ार : ,,
६—करीमाँ : ,,
७—नुसख़ा सही गुलिस्ताँ : ,,
८—रिसाले क़वाइहुल निशाद : सय्यद महंदीअली।
९—रुक्क़ात अजीब : श्री कृष्ण देव नारायण।
१०—रूक्क़ात दफ़्तर शेख़ अब्बुल फ़ज़ल।
११—शाहनामा : मुजफ़र उद्दीन।

१२—रुक्कात इंशाय बहार अजम ।

१३—तारीखुल हुक्मा : अहमद खाँ सूफ़ी ।

१४—बोस्तानेहिकमत ।

१५—चौदह वसीअत : किस्सों में ।

१६—तर्जुमा बोस्ता नज़्म में ।

उक्त पुस्तकों के विषय में विशेष जानकारी यहाँ देना सम्भव नहीं है । केवल सूची देना ही पर्याप्त है । यदि कोई पुस्तक विशेष उपयोगी होगी तो उसका परिचय अध्ययनोपरान्त दे दी जायगी । रंगलक्ष्मी पुस्तकालय के हिन्दी-ग्रंथों की सूची इस प्रकार है :—

१—विनय पत्रिका : तुलसी : लिपि-तिथि संवत १८२४, मार्ग शिरशु० ८ ।

२—रासपंचाध्यायी : नन्ददास जी ।

३—तुलसीकृत रामायण ।

४—चकत्ता पातस्या कलिन्सभा ग्रंथ ।

५—बिहारी सतसई ।

६—दंपति वाक्य विलास ।

७—कवितावली संग्रह ।

८—छद्म षोड़सी ।

इनमें से प्रथम तीन के विशेष परिचय की आवश्यकता नहीं है । शेष पाँच का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है ।

(१) चकत्ता पातस्या कलिसभा ग्रंथः—

इसका एक और नाम ग्रंथ में ही दिया गया है : चकत्ता पातस्याह सत्त वार्तानंत संग्रह : "अक्वलिनामा ग्रंथ लिख्यते ।" इस ग्रंथ के आरंभ का अंश इस प्रकार है :—

"संवत् १४१४ में तेंहैमूर स्याहजी ईरान कौं लूटि लूट मुलतान होय दल ।।७२०००।। बहत्तरि हजार आदिमी पकड़े । और दिल्ली आइ मारि डारे । इकवाल षाँ भाज्यौ दिल्ली कतल भई, लुटी पीछै । हरद्वार को मेला कतल करि पहाडों की राह होय जंबू के राजा कौ पकडि करि षिजरषाँ को लाहौर वा मुलतान बकसि आये । आपदेस समरकंद कौ गये । बीच में कैऊ बेर पठानौ की बातस्याही हिन्दुस्ता में होय गई । सं० १४५७ में बारस्याह जैहैरुद्दीन जे हैमूर के बंस में पाँचई जायगें का बिलफते करी‥‥ ।"

फिर पीछे बाबर से लेकर बहादु रशाह तक के समस्त बादशाहों का आँकड़ों और तिथियों से पुष्ट वर्णन है । नादिरशाह के हमले का भी वर्णन इसमें है । लेखक की दृष्टि सांस्कृतिक विशेष प्रतीत होती है । इस ग्रंथ की सूची से यह बात स्पष्ट है । सूची इस प्रकार है—

१—सूबान कौ प्रभान लिख्यते ।

२—अहल षिदमद के नाम ।

३—अथ आमेरि के राजान कौ बंस लिख्यते।
४—अथ माधव सिंघ जी का जस वर्नन।
५—अथ सीसौदिया के बंस कौ बर्नन।
६—अथ साल कौ भेद [इसमें कपड़ों के विविध रंगों और प्रकारों का विवरण है।]
७—अथ विलाइति का वस्त्र।
८—अथ जरी भेद।
९—अथ अभूषन, हथ्यार, संस्कार।
१०—सथ सोल्है सिंगार।
११—अथ दिन कृति।
१२—अथ परेमेश्वरा।
१३—ऋतु, काव्य आदि का बर्नन।
१४—अथ भक्त माल।
१५—अथ वार्ता।

इस प्रकार सूची को देखने से ज्ञात होता है कि लेखक ने राजनीति, समाज, व्यवहार, काव्य, अध्यात्म सभी का विवरण प्रस्तुत किया है। और अन्त में "इतिचकत्ता सत्त संपूर्णम्" लिखकर लेखक ने ग्रंथ का अन्त कर दिया है। लेखक का नाम और लेखन की तिथि अज्ञात है। पीछे गणेश जी का मंगलाचरण भी है। पुस्तक ७॥″ × १२॥″ है : पृष्ठ संख्या १३६।

(२) बिहारी सतसई (१०″ × ६॥″)

बिहारी सतसई की कृष्ण कवि की प्रसिद्ध टीका से युक्त यह ग्रंथ है। वर्तमान क्रम से इसके दोहों का क्रम भिन्न है। टीका की शैली इस प्रकार है : पहले गद्य-वचनिका, और फिर कवित्त में दोहे का अर्थ। उदाहरण के लिये बिहारी सतसई का एक दोहा लीजिये—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ आगें कौंन हवाल॥

इसकी गद्य-वचनिका इस प्रकार है—

"यह दोहा नाइका के तन में जोवन अवही आयौ नाँहीं। नाइक की आसक्ति पहिले ही अधिक देषी सो सषी सषी सों भ्रभर को प्रसंगु करि कहति है।"

इसका अर्थ कवित्त में इस प्रकार दिया है :—

नाहिं परागु नहीं मकरंदु अज्यों प्रगटीन सुवासु विकासर।
जानौं को आगें घों ह्वै है कहा गति अैसौ पग्यौ अबही इक आसर॥

फूली धनी फुलवारि रसाल पै काऊकों नेंक नमानतु तासर ।
रीझ रली मति कंज कली पै अली मडरानों रहै निसिवासर ।।

यही कृष्ण कवि की टीका का क्रम है। बिहारी सतसई के अंत में सतसई और ब्रजभाषा की प्रशस्ति है। वह इस प्रकार है:—

हों बिनउँ सब कविनु के चरन कमल सिरु नाइ ।
प्रगत करी तिहुँलोक में कविता जिन वह भाइ ।
सोकविता द्वै भाँति है, आरष-पौरष जानि ।
आरष सुर अरु मुनित कृत नस्कृत पौरष मानि ।।
पौरष कविता त्रिविधि है, कवि सब कहत बषानि ।
प्रथम देवबानी बहुरि प्राकृत भाषा जानि ।।
देस देश तें होति सो भाषा बहुत प्रकार ।
बरनत हें तिन सबन में ग्वारियरी रससार ।।
ब्रजभाषा भाषत सकल सुरबानी सम तूल ।
ताहि बषानत सकल कवि जानि महा रसमूल ।।
ब्रजभाषा बरनी कविनु बहु विधि बुद्धि विलास ।
सब कौ भूषन सत सइया करी बिहारी दास ।।
जो कोऊ रसरीति कौ समझ्यो चाहै सारु ।
पठै बिहारी सत सइया कविता को शृंगारु ।।
उदय अस्त लों अवनि पै सबकैं याकी चाह ।
सुनत बिहारी सतसइया सब ही करत सराह ।।
भाँति भाँति के अरथ बहु यामें गूढ़-अगूढ़ ।
जाहि सुनें रसरीति कौ मगु समझत अति मूढ ।।
विविध नाइका भेद अरु अलंकार नृपनीति ।
पढ़ै बिहारी सत सइया जानै सब कवि-रीति ।।

इस प्रकार टीकाकार ब्रजभाषा का भक्त है। रस-रीति, अलंकार-पद्धति, नृप-नीति आदि से विभूषित सतसई ब्रजभाषा का भी शृंगार है। प्रस्तुत टीका किस प्रकार अस्तित्व में आई, किसके संरक्षण में यह टीका लिखी गई, आदि पर टीकाकार ने विस्तृत रूप से लिखा है। संरक्षक का परिचय आदि इस प्रकार दिया हुआ है:—

रघुवंसी राजा प्रगट पुहमि धर्म अवतारु ।
विक्रम-निधि जयसाहि रिपु ठंड बिहंडन हारु ।।
सुकवि बिहारी दास सों तिन कीनों अति प्यार ।
बहुत भाँति सनमानु करि दौलति दई अपार ।।

राजा श्री जयसिंह के प्रगट्यौ तेज समाजु ।
रामसिंधु गुन राम सम नृपति गरीब निवाजु ।।
कृष्ण सिंधु तिनकें भए केहरि राजकुमार ।
विष्नु सिंधु तिनके भए सूरज कौ अवतारु ।।
महाराज विसुनेस कें धर्म-धुरंधरु धीरु ।
प्रगट भयौ जयसाहि नृप सुमति सवाई वीरु ।।
प्रगट सवाई भूप कें मंत्री मनि सुषसारु ।
सागरु गुन सतसोल कौ नागरु परम उदार ।।
आया मल्ल अषंड तप जग सोहतु जसु ताहि ।
राजा कीनो करि कृपा महाराज जयसाहि ।।
मन क्रम वच साँचौ भगतु हरि भक्तनि कौ दासु ।
वेद वचन निजु धर्म कौ जाकें हठ-विस्वासु ।।
छत्री-कुल छिति पै भए बेरी जग विष्यात ।
परदुख वेरी षंडनों मंडन गुन-अवदात ।।
लालदासु अति ललित गुन प्रगट भए तिहिबंस ।
रामचंदु तिनकें भए निज कुल के अवंतस ।।
महाराजु तिनकै भए जिनकौ जसु अवदातु ।
राइ पँजाब सपूत मनि, उपजे जिनकें तात ।।
तिनकें प्रगटे तीनि सुत विक्रम-बुद्धि-निधान ।
रक्षक बाँभन गाई के, निपुन दान करवान ।।
राजा आयामल जग विदित राइ सिवदास ।
लसत नराइन दास जसु पूरन पुहसि प्रकासु ।।
लीला जुगल किसोर की रस कौ होइ निकेतु ।
राजा आयामल्ल कौ ता कविता सों हेतु ।।
माथुर विप्र ककोरकुल लह्यौ कृष्ण कविनाँउँ ।
सेवकु हों सब कविनु कौ बसत मधुपुरी गाँउँ ।।
राजामल कवि कृष्न पर ढर्‌यौ कृपा कें ढार ।
भाँति-भाँति विपदा हरी, दीनी लच्छि अपार ।।

यहाँ तक कवि ने अपने और अपने आश्रय दाता के वंश का परिचय दिया । अब वह प्रसंग आता है जिसमें सतसई की टीका करने की परिस्थिति उत्पन्न हुई :—

एक दिना कवि सों नृपति कही कही कों जात ।
दोहा दोहा प्रति करौ कवित्त बुद्धि अवदात ।।

पहलें हूँ मेरे यहै हिय में हुतौ विचारि।
करौं नाइका भेद कौ ग्रंथ स्वबुधि-अनुसार।।
जे कीने पूरब कविनु सरस ग्रंथ सुषदाइ।
तिनहिं छाँड़ि मेरे कवित को पढ़ि है मनुलाइ।।
जानि यहै अपनें हियें कियौ न ग्रंथ प्रकाश।
नृप कौ आइसु पाइ कै हिय में भयौ हुलास।।
करे सात सै दोहरा सुकवि बिहारी दास।
सबु कोऊ तिनकों पढ़ै सुनें सुनें सविलास।।
बड़ौ भरोसौ जानि में, गह्-यौ आसरौ आइ।
यातें इन दोहानु संग दीनें कवित लगाइ।।
उक्ति-जुक्ति दोहाँनु की अच्छर जोरि नवीन।।
करे सात सै कवित में पढ़ियहु सकवि प्रवीन।।

ग्रंथकार ने ग्रंथ की रचना-तिथि इस प्रकार दी है:—

सत्रह सत द्वै आगरे असी बरस रविवार।
अगहन सुदि पाँचें भए ए कबित बुद्धि अनुसार।।

सतसई के दोहों का जो क्रम मिलता है, उससे इसका क्रम भिन्न है। अंत इस प्रकार है:—

"इति श्री बिहारी सतइया के दोहा कवित्त सहित संपूर्ण। शुभमस्तु। संवत १७८३। समए चैत्रमासे कृष्ण पछे, पंचम्यां तिथौ।"

इन्दंपति वाक्या विलास

इस ग्रंथ के रचयिता श्री गुपालराय हैं। यह बात आरम्भ की पंक्तियों से स्पष्ट है: "श्री गणेशायनमः। अथ गुपालराय कृति दंपति वाक्य विलास ग्रन्थ लिष्यते।" अन्त की पंक्तियाँ इस प्रकार है: "इति श्री दम्पति वाक्य विलास सम्पूर्ण समाप्त। सं० १९०० मि० ज्ये० सुदी ७, चंद्रवार लिपी स्वहतम। मनीपारे मध्य वृन्दावन में। शुभमस्तू।" इस प्रकार सं० १९०० में ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ। कृष्ण और गणेश का मंगलाचरण ग्रन्थ में दिया गया है। कवि ने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है:—

परम प्रतापी कवि भए जुग राज राय,
जाके मुरलीधर प्रगट नाम पायौ है।
जाके घनस्याम सुत, वृन्दावन बसे,
आनि करि करनी कौं जस जग में बढ़ायौ है।
जनमि प्रवीन ग्रंथ पिंगल और रस जाल,
एकादसी कातिक महातम कौं गायौ है।

जाको सुत प्रगट गुपाल कविराय तिनि,
दंपति के वाक्य को बिलास कौं बनायौ है।
बरगराय परवीन सुत कवि गुपाल यह नाम।
मध्य मनीपारे बसें श्री वृन्दावन धाम॥

फिर कवि ने ग्रन्थ-हेतु एक कवित्त में इस प्रकार बताया है—

जग दुष षांन जांनउ जे विराग ग्यान,
आमें गुंण घणे गुण मानन रिझैबे के।
करै जोई कास तामें दगा नहिं षाइ,
हानि टोटौ नहिं आवै आमें हुन्नर कमें वे के।
सबही कौं ज्ञान धनमानन कौ राजी कर्ण,
धरन नरन गुण माननि रिझैवे के।
कुजसगमें वे के औ सुजस बढ़ैवे के सु,
केते हेत दंपति विलास के बनौवे के।

इस प्रकार ग्रन्थ-हेतु अत्यन्त व्यावहारिक है। संसार-चक्र का ज्ञान इसमें भरा है। फिर ग्रन्थ का प्रयोजन दिया गया है :—

कविता कृति दुख-सुष के कवित बनाए दोइ।
कवि प्रवीन पितुकौं जबहि जाइ सुनाए सोइ॥
है प्रसन्नि ताही घरी अज्ञा मोकौं दीन।
दंपति वाक्य विलास सुत कीजै ग्रंथ नवीन॥
जिनि वातन ते जगत में काम परत नित आइ।
तिनके गुण दूषन सकल कह गुपाल कविराइ॥
पिय प्यारी मिलि परसपर कहि गुण दोष प्रकास।
याते नाम धर्यौ सुकवि दंपति वाक्य विलास॥

इसमें उत्तर-प्रत्युत्तर शैली को कवि ने अपनाया है। जीवन की भौतिक और सांस्कृतिक यथार्थता के कवि समीप है। एक विश्वकोष की सी यह रचना दीखती है, यह सूची-परिचय से स्पष्ट हो जायगा—

धन दुष-सुष घर बाहर प्रदेसदेस,
अमल अनेक षेल सूची गुण वास के।
सास्त्र, उपसास्त्र, बरना स्रम साध भंद्रराज,
सहर-प्रबन्ध अगरेजन के पास के'
वनिजरि कांनि सब, जाति के विधान,
अधमाधम जिहांन, गुण प्रकृतितिहासके।

सुकृत प्रकास ज्ञान भक्ति फल तास,
ए गुपाल जू विलास कहें दंपति विलास के ।
देषि नई रचना वचनानि की सो सुनिकें सबनें लिषवायौ ।
पंडित राज समाजन में कविराजन के मन में अतिभायौ ।।
दंपति वादहि कौ मिसुकें सब वातन कौं सुख दु:ख दिखायौ ।
राय गुपाल विराग बढ़ामन दंपति वाक्य विलास बनायौ ।।

इस ग्रन्थ की विस्तृत सूची ग्रन्थ के आरम्भ में दी गई है । उससे ग्रन्थ के विस्तार का ज्ञान हो जाता है । व्यावहारिक जीवन का कोई अंग अछूता नहीं है ।

(४) कवितावली संग्रह

यह एक संग्रह-ग्रन्थ है । इसमें अनेक प्राचीन कवियों की कविताएँ संगृहीत हैं । पर इसमें जो 'फूलवंश' का जो परिचय है वह महत्वपूर्ण है । फूलवंश के किसी राजा ने कवि को आश्रय दिया था । फूलवंश का यह राजा मालविंदु बताया गया है । आरम्भ में "श्रीमते रामानुजायनम:" लिखा हुआ है । फिर गणेश जी का मंगलाचरण है । तत्पश्चात् राजवंश का वर्णन वर्णन इस प्रकार दिया हुआ है :—

औरापति जैसें गजराजन में राजै औ,
विराजै पच्छिराजन में सोभा राजहंसकी ।
दीपति नदीपति की नद्दिन विहद्द जैसें,
मंद करै तारा दुति आभा भान अंस की ।
रितु मै बसंत तैसें देवन में सची कंत,
जाहर जवाहर में हीरा के प्रसंस की ।
ऐसे राजवंस के समाज कै नवीन आज,
फैलि रही सुखद सुवास फूलवंस की ।

इस प्रकार फूलवंश की अत्युक्ति पूर्ण प्रशस्ति ग्रन्थ में मिलती है । मालविन्दु राजा इसी फूलवंश का था । उसने कवि को आश्रय दिया । मालविन्दु के घोड़े का वर्णन इस प्रकार है ।

सूरज के रथ के से पथ के चलैया चारु,
न थकें थिराहिं थाँन, चौकरी भरते हैं ।
फादत अलंगें, जब बाँधत छलंगै जिन,
जीनन तें जाहर जवाहर झरत है ।
मालबिंदु भूप की सवारी के अनूपरूप,
गौन में दपेत पौन हूं कौ पकरत है ।

करि करि बाजी जिन्हें लाजी चपलाजी देषि,
तेरे तेज पर बाजी बाजी सी करत हैं।

इसमें समय संवत् स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। इस प्रशस्ति के पश्चात् अनेक प्रसिद्ध कवियों की कविताओं का संग्रह है।

(५) छद्म षोडसी

इसका आकृति-विवरण यह है (७।।" × ५।।।") पृष्ठ-संख्या ३३। इसमें सोलह छद्म लीलाओं का चित्रण है। इस ग्रन्थ के कर्ता राधावल्लभीय सम्प्रदाय से सुसंबद्ध हैं। आरम्भ की पंक्तियों से यह बात स्पष्ट है: "राधावल्लभो जयति ।। अथ श्री ब्रजराज कुंवार प्रेम आधिक छद्म षोडसी पद बंध लिख्यते।" इन सोलह लीलाओं में अंतिम लीला शिव का ब्रज में होली देखने आना है। अंत में कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

'षेल विविध नित-नित रचै भीजे डर अहलाद।
वृन्दावन हित रूप जस, गायौ (श्री) हरिवंशप्रसाद।'

श्री हरिवंश जी के प्रसाद से कवि ने ग्रन्थ लिखा। पर यह स्पष्ट नहीं होता कि कवि का नाम श्री हित वृन्दावन है अथवा हित रूप। दोनों नामों की झलक है।

शैली राग-रागनियों की है। राग काफ़ी से ग्रन्थ का आरम्भ हुआ है। एक राग देखिए—

ताल मूल मेरी बात सुनौरी, हौं, नंदगाम ते आई।
बसिहौं एक राति, कोऊ लाइक, ताहि राषौ विरमाई।।
ह्वै गई भेंट सषी ललिता सौं, बाँह पकरि सो लाई।
प्यारी जू निकट राषियै याकौं यह किनिहुँ जुरुठाई।।
है भामिनि काहु बड़े भवन की दै आदर बैठाई।
घूँघट मारी पाइ लागि कै श्री राधा सौं कछु बतराई।।
ऊ मेरौ है पीहर पूरौ मोहि तहाँ देहु पहुँचाई।
अति अनीति नु देषि हौं पीहर चली पलाई।।

यह एक लीला का प्रसंग है। ऐसे ही १६ प्रसंग इस ग्रन्थ में आये हैं। सांप्रदायिक और शैलीगत महत्त्व से यह पुस्तक पूर्ण है।

श्री चन्द्रभान रावत

टिप्पणी—४

साहित्य की परिभाषा की तुलनात्मक समीक्षा

साहित्य अथवा वाङ्मय के अंतर्गत व्यापक अर्थ में सभी लिपिबद्ध सामग्री आ सकती है, चाहे वह अर्थशास्त्र हो, अणुविज्ञान हो, कविता, उपन्यास या नाटक हो वा दवाई की विवरण-पत्रिका भी क्यों न हो। किन्तु सीमित वा रूढ़ अर्थ में 'साहित्य' से लिपिबद्ध रागात्मक वस्तु का बोध होता है। इसे हम ललित वा 'शुद्ध' साहित्य कह सकते हैं, जो समाज-शास्त्र, विज्ञान जैसे कोरे ज्ञान-साहित्य से भिन्न होता है। ललित साहित्य विशेषतया हृदय-क्षेत्र से संबंधित है, जब ज्ञान-साहित्य प्रधानतया बुद्धि-क्षेत्र से। एक राग-योग है, तो दूसरा ज्ञान-योग।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से साहित्य (सहितस्य भाव साहित्यम्) के दो मूल अर्थ हो सकते हैं। एक, 'हितेन सह सहितम्'; अर्थात् वह जिसमें हित की भावना या हित का निर्देश हो वा वह वस्तु, जो (जन) हितकारी या (लोक) कल्याणकारी हो। दूसरा अर्थ है, सहित यानी साथ होना। इसके उल्थे तीन प्रकार से किये जा सकते हैं। पहले, शब्द तथा अर्थ के एकीकरण का वह द्योतक हो सकता है; जैसे कालिदास ने कहा है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपन्नये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

दूसरे, कृतिकार एवं पाठक के साधारणीकरण की ध्वनि निकल सकती है। तीसरे, समुदाय की ओर भी संकेत हो सकता है जिसका तात्पर्य होगा विचारों का लिखित भंडार।

इस प्रकार, साहित्य अपने निस्सीम अर्थ में समस्त अक्षरबद्ध वाग्व्यवहार अथवा संकुचित ज्ञान तथा अनुभव की समष्टि अर्थात् वाङ्मय का पर्यायवाची होगा। संकुचित अर्थ में वह भिन्न-भिन्न ललित कृतियों की समष्टि अर्थात् वह काव्य का समानार्थक हो जाता है। 'शुद्ध' साहित्य वा काव्य की (जिसमें हम अलिखित लोक साहित्य को भी समाविष्ट कर सकते है) व्याख्या भारतीय और यूरोपीय साहित्य शास्त्रियों ने नाना प्रकार से की है। हमारे यहाँ मुख्यतः छह सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं—(१) रस, (२) अलं-

कार, (३) रीति, (४) ध्वनि, (५) वक्रोक्ति तथा (६) औचित्य। पहले इन पर विहंगम-दृष्टि-पात करें।

भरतमुनि, जो हमारे साहित्य शास्त्र के आद्य प्रवर्तक माने जाते हैं, भाव या रस ही को अग्रता देते हैं और उन्होंने कहा है—'न भावहीनोऽस्ति रसो, न भावो रस-वर्जितः। तथा नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।' उनके प्रबल समर्थक विश्वनाथ के अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है ("वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।") पंडितराज जगन्नाथ रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य मानते हैं (रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दः काव्यम्)। वस्तुतः रस से रमणीयार्थ भिन्न नहीं हो सकता। जहाँ-जहाँ रमणीयार्थ होगा, वहाँ-वहाँ रस रहेगा ही। जिससे स्वाद या आनंद की अनुभूति प्राप्त होती हो, वही रस है और उसी प्रकार जिसके द्वारा मन रमता हो अर्थात् हम अनुरंजित होते हों, वहीं रमणीयार्थ है। इसलिए, इन दोनों व्याख्याओं का अभिप्राय एक ही है। ये लाक्षणिक अलंकारादि को भाव के आश्रित मानते हैं और आग्रह करते हैं कि भाव ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ लक्षण है।

'काव्यालंकार' के रचयिता भामह प्रथम अलंकारवादी आचार्य हैं। यद्यपि वे काव्यों में रस की विद्यमानता आवश्यक मानते हैं, तथापि अलंकारों को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि जैसे "न कांतमपि निर्भूषं विभाति कांतामुखम्," वैसे ही अनलंकृत काव्य आत्माहीन होता है। परवर्ती आचार्य दंडी, उद्भट आदि ने इस संप्रदाय को परिपुष्ट किया। अलंकार का अर्थ है गहना या सजावट। अलंकारवादी यह कहते हुए नहीं थकते हैं कि जैसे लावण्यवती स्त्री के अंगांग आभूषण धारण से चमक उठते हैं, वैसे ही अलंकारों से युक्त काव्य मनोहर होते हैं। ठीक है। आभूषणादि धारण से सौंदर्य चमकेगा यदि मूलतः शरीर या काव्य में कमनीयता हो तो। अर्थात् अलंकार केवल प्रसाधन है, काव्य का मूल तत्त्व या मूल धर्म नहीं है। अतः अलंकारवादियों की व्याख्या दोषपूर्ण है।

आचार्य वामन ने घोषणा की कि रीतिरात्मा काव्यस्य और रीति क्या है?—विशिष्टा पदरचना रीतिः। शब्दों को व्यंजित गुणों के अनुसार चुन-चुन कर रखना रीति का रहस्य है। वैदर्भी, गौड़ीया, पांचाली आदि रीतियों का इन्होंने विवेचन किया है। ये विविध गुणवाले मार्ग हैं, जैसे "ओजः कान्तिमती गौड़ीया।" रीतिकारों के अनुसार गुण ही काव्य-सौंदर्य उत्पन्न करते हैं, रस भी गुण के अधीन है और अलंकारादि आनुषंगिक हैं। 'मायावी' मूलतत्त्व के अन्वेषण में रीतिवादी अलंकारवादियों की अपेक्षा आगे बढ़ चुके थे। पर वे अंतःस्थल तक नहीं पहुँच सके और भ्रमवश अमेरिका को भारत बता दिया। (जैसे पोर्तुगीस समुद्र-पर्यटकों ने किया था)। उनकी रूढ़ि-प्रधान व्याख्या में पर्याप्त व्यापकता नहीं है। रीति अर्थात् गुणानुवर्ती शब्दयोजना साध्य नहीं हो सकती, प्रत्युत अवश्य ही काव्य-साफल्य में सहायक सिद्ध हो सकती है।

अब ध्वनि सिद्धान्त को लें। आनन्दवर्धन और मम्मट ध्वनिकारों में मुख्य थे। इनका प्रतिपादन है कि श्रेष्ठ काव्य वही कहलायेगा जिसमें उत्तम व्यंग्य हों। वे स्वीकार करते हैं कि रस तथा अलंकार काव्य के जीवतत्त्व हैं, पर इस पर बल देते हैं कि बांछनीय अर्थ का प्रकटन अभिधा द्वारा नहीं, बल्कि व्यंजना अथवा कम-से-कम लक्षणा

द्वारा हो। अभिधेयार्थ से भिन्न अर्थ अर्थात् जो 'ध्वनि' निकलेगी वही काव्य की आत्मा है। दूसरे शब्दों में ध्वनिवादी प्रकटन या अभिव्यक्ति-सौंदर्य के पक्षपाती हैं। अतएव, ध्वनि भी अलंकार एवं रीति के समान रस-सृष्टि में साधन मात्र है।

वक्रोक्तिवाद के प्रधानाचार्य थे कुंतल। कथन की असाधारणता को ये काव्यात्मा मानते थे। ध्वनि भी इस विलक्षणता मे निहित है। वर्णन-वैचित्र्य अर्थात् निरूपण की विशिष्ट शैली उनकी दृष्टि में काव्य का प्राणतत्त्व है। स्वाभाविकता या सारल्य हो, टेढ़ेपन का अभाव हो, तो उस कृति की गणना काव्य की कोटि में नहीं हो सकती, वह भले ही और कुछ भी हो। सौंदर्योत्पादन में वक्रोक्ति भी उपकारक ठहरेगी, लेकिन वह शाश्वत मूलसौंदर्य ही नहीं है, क्योंकि वह केवल प्रकटन-प्रकार से संबद्ध है।

शेष रहा औचित्यवाद। उचित वा अनुरूप का भाव है औचित्य। आचाय क्षेमेन्द्र ने काव्य के स्रोत तत्त्व के रूप में 'औचित्य' की चर्चा की है। काव्य में विषय, शब्द, अलंकार गुण आदि का प्रयोग समीचीन या समंजस रूप से होना चाहिए। यदि इसमें प्रमाद हो जाय, तो रस-निर्माण को बाधा पहुँचेगी, यहाँ तक कि रसोत्पत्ति ही नहीं होगी। रसवादी, ध्वनिवादी और अलंकारवादी को यह स्वीकार्य है कि औचित्य काव्य का एक गुण है। रस को काव्य की आत्मा मानने में क्षेमेन्द्र को आपत्ति नहीं है, परन्तु वे इस बात पर जोर देते हैं कि काव्य के प्रत्येक अङ्ग की योजना में परिमाण, अनुपात या अनुरूपता को बरतना चाहिए। अतः औचित्यवाद एक प्रकार से संशोधित रसवाद ही है।

आधुनिक काल तक पिछली कुछ सदियों में हमारी हिन्दी, कन्नड़, मराठी, तेलुगु आदि प्रादेशिक भाषाओं में जो साहित्य शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गये, वे प्रायः संस्कृत के छायानुवाद थे या मूल ग्रन्थों पर की हुई टीकाएँ थीं। उपर्युक्त छह वादों का ही चर्वितचर्वण रहा और हम कह सकते हैं कि ठोस तौर पर किसी नए साहित्यशास्त्रीय सिद्धांत का प्रवर्तन नहीं किया गया। ग्यारह सौ साल पूर्व लिखा हुआ लक्षण ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' और तदुपरांत रचित 'काव्यालोकन' आदि प्राचीन काव्य शास्त्र-रचनाएँ कन्नड़ में उपलब्ध हैं। इनमें भी संस्कृत में प्रतिपादित साहित्यतत्त्वों के स्पष्टीकरण, विवरण, समन्वय, पुनराख्यान आदि ही पाये जाते हैं। प्राचीन कन्नड़ साहित्यकार सप्तभंगी वाली विद्यादेवी के आराधक थे। उन भंगियों में अन्तर्दृष्टि तथा रससृष्टि को अग्रस्थान प्राप्त थे। यह स्पष्ट विदित होता है कि कन्नड़ काव्यकार भाववैभव को ही सर्वोपरि मानते आये हैं।

हिन्दी के कवि प्रवर तुलसीदास ने "भावभेद अपारा" कह कर भाव की सार्वभौमता घोषित की है। देव, मतिराम, कुलपति मिश्र आदि ने रस की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। केशवदास, महाराज जसवन्तसिंह आदि ने अलंकार के पृष्ठपोषक थे। हिन्दी के उत्तर मध्य युग में रीति अर्थात् रूढ़ि-जड़ता का बोलबाला रहा। इस काल में रूप और शैली को प्राधान्य प्राप्त हुआ। आधुनिक काल में पश्चिम देशों के निकट सम्पर्क में आने पर तुलनात्मक अनुशीलन और नये विधानों से विचार-मंथन होने लगे।

पाश्चात्य दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। उधर कल्पनातत्त्व महत्तर माना गया। सृजनात्मक साहित्य कल्पना-प्रसूत है। कवि दबी हुई आकांक्षाओं को कल्पना के सहारे अभिव्यंजित करता है। प्राचीन यूनानी आचार्य अरस्तू ने, जो यूरोपीय आलोचना-शास्त्र के आदि पुरुष थे, कला को अनुकरण कहा है। Imagination (कल्पना) शब्द Image से बना है। Image का अर्थ है प्रतिमा, छाया या बिंब। समाज वा प्रकृति की प्रतिकृति अथवा प्रतिबिंब ही काव्य है। शेक्सपियर ने कल्पना का गुणगान किया है। समन्वयवादी जानसन और हड्सन की परिभाषाओं में भी कल्पनातत्त्व को स्थान अवश्य प्राप्त है। अभिव्यक्ति वा भाव पक्ष को महत्ता देने वाले साहित्यकार भी पश्चिम में हुए हैं। कोलरिज ने काव्य को उत्कृष्ट शब्दों की उत्कृष्ट योजना कहा है (The best words in the best order) वर्ड्सवर्थ ने मनोवेगों के स्वतन्त्र प्रवाह को काव्य माना है। ब्रौनिंग ने यह कह कर कि "art may tell a truth obliquely" वक्रोक्ति की पुष्टि की है। पश्चिम का झुकाव बाह्य प्रवृत्ति की ओर अधिक रहा है और इसलिए बिंबग्रहण पर वहाँ बल दिया गया। भारतीय लोग परम्परा से अन्तःप्रवृत्ति के रहे हैं। अतः यहाँ भाव और रस को अधिक पारम्य प्राप्त हुआ।

हिन्दी के आधुनिक काल के प्रथम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कल्पना और मौलिकता को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। उनकी कृतियों में भावतत्त्व की अपेक्षा बुद्धितत्त्व उभर आया है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने कहा है कि निस्सीम भाव जगत् में से यथेष्ट भाव राशि चुनकर सुसज्जित करना—यही काव्य की व्यापक व्याख्या हो सकती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य को भावयोग कह कर अभिहित किया है और उसे ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के समतल पर रक्खा है।

आचार्य सत्येन्द्र ने काव्य को अनुभूति की वस्तु कहा है। वे काव्य के मूल्यांकन म राग का प्राधान्य स्वीकार करते हैं। काव्य की वस्तु तथा अभिव्यक्ति-प्रणाली को बेसन और लड्डू की उपमा देते हुए, उन्होंने यह अभिमत व्यक्त किया है कि समीक्षा के लिए दोनों पहलुओं पर विचार करना उचित है। यह आवश्यक है क्योंकि जीवन में रुचि को भी स्थान है। बाबू गुलाबराय ने जटिल व्याख्या की है जिसका सार यह प्रतीत होता है कि काव्य भावप्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं की प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।

अर्वाचीन कवि-कुल-गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर बतलाते हे कि साहित्य अनुकरण नहीं, आविष्कार नहीं, अपितु वह सृष्टि है। उसका प्रधान अवलम्बन ज्ञान नहीं, पर भाव है। बाह्य प्रकृति और मानव चरित्र प्रतिक्षण मानव हृदय में आभार धारण करते हैं और संगीत को धावित करते हैं। भाषा रचित वह चित्र तथा संगीत ही ललित साहित्य है। वे मानते हैं कि काव्य स्त्रियों के समान अपने प्रयत्न को सफल बनाने के हेतु अलंकार, सादृश्य, रूपक, छन्द, इंगित आदि की सहायता लेता है।

आधुनिक काल के कन्नड़ महाकवि बेन्द्रे ('अम्बिका-तनयदत्त') ने भाव को अन्तरंगयोग और कला को बहिरंग योग कहा है। अन्तरंगयोग रसविद्या है और बहिरंगयोग साहित्य विद्या है। काव्य समाधि की ध्यान-धारणा से युक्त दर्शन काव्य-

योग है। वे मानते हैं कि स्वर वर्णसंयोजना में भी भावव्यंजक एक नादध्वनि है। रागात्मक कलाकृति काव्य है। भावसागर का मन्थन करके रसामृत निकालना ही कवि का कार्य है। काव्य को उन्होंने स्वानन्दलहरी, स्फूर्ति विलास भी बताया है। विख्यात कहानीकार व समालोचक मास्ति वेंकटेश अय्यंगार ('श्रीनिवास') की धारणा है कि आंतर्य के अनुभव की अभिव्यंजना ही काव्य है। रागावस्था में काव्य प्रस्फुटित होता है। काव्य तथा अलोचना के लिए कवि का आवेश ही मूल है।

कन्नड़ और संस्कृत के उद्‌भट विद्वान्, साहित्यकार, पत्रकार एवं राज्यशास्त्र-वेत्ता गुंडप्पाजी मानते हैं कि काव्य अन्तश्चैतन्य का बहिरवतार है और उसके लिए भाव ही मूलद्रव्य है। कवि ने 'क्या' कहा है और 'कैसे' कहा है—ये दोनों (अर्थात् विषय और रीति) परस्पर सुबद्ध होते हैं। कवि ने केवल कान के लिए कविता की है या जीवन के लिए उसमें कुछ तथ्यांश है—इसे भी परखना होगा। बर्तन सोने का हो, नवरत्नखचित हो, पर देखना होगा कि भीतर क्षीर है, घी है, दही है या पानी है। तथापि वे यह भी बताते हैं कि बुद्ध्यंशव्यापना-रहित केवल भावोद्‌गार अर्धनिद्रावस्था की अर्थहीन बकवास होगी। काव्य का कौतूहलजनकत्व बुद्ध्यंश की उपज है। काव्य के लिए बुद्धिसंपर्क न केवल ग्राह्य, किन्तु आवश्यक भी है। जैसे सूर्य रश्मि में दीप्ति और उष्णता दोनों हैं, वैसे ही काव्य में हृदयकार्य और बुद्धिकार्य दोनों एकीभूत हो जाते हैं। यदि हम चाहते हैं कि काव्य जीवन पथ के लिए ज्योति हो, तो उसमें जिज्ञासापावक का होना आवश्यक है।

ये सारे अभिमत तीन स्थूल पक्षों में बाँटे जा सकते हैं—पहला भाव या अनुभूति पक्ष, दूसरा अभिव्यक्ति वा कलापक्ष, तीसरा उपर्युक्त दोनों का समन्वय पक्ष। अलंकार ध्वनि, वक्रोक्ति तथा रीति, ये चारों सिद्धान्त अभिव्यक्ति सौंदर्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। कल्पना भी इसी कोटि की है। रस और औचित्य सिद्धान्त भाव वा अनुभूति पक्ष में निहित हैं।

अभिव्यक्ति पक्ष वाले सभी वाद एकांगी एवं सदोष हैं। यथास्थान हम यह देख चुके हैं। फिर भी, केवल भाव मात्र पर ही बल देना समंजस नहीं होगा। सम्यक् दृष्टि अपनाना आवश्यक है। उपर्युत मंथन के फलस्वरूप, निचोड़ के रूप में हम यह कह सकेंगे कि काव्य मानव मन में तरंगित होने वाली अनुभूतियों वा भावों की मूर्तता वा प्रकटन है। वह भावशिल्प है, रस-परिपाक है। उसका मूल तो भाव वा अनुभूति ही है। अत: उसकी प्रधानता स्वाभाविक है। पर उसको मूर्त करने के लिए, प्रकटन करने के लिए अभिव्यक्ति का अवलम्बन अनिवार्य है।

स्पष्टता के लिए निराकारता को छोड़ हम एक साकार सादृश्य लें। यदि हाथ, पैर कट जाते हैं अथवा आँख या कान अपना कर्तव्य नहीं कर पाते हैं, तो भी मनुष्य जीवित तो रह सकेगा, भले ही वह विकलांग कहलायेगा और जीवन का पूर्ण आनन्द नहीं सेवन कर सकेगा और उनकी कार्यक्षमता कुंठित हो जायगी। मनुष्यत्व (कम-से-कम पार्थिव अर्थ में) उसमें रह सकेगा और प्राण धारण वह कर सकेगा। अंधे सूरदास और लंगड़े बैरन (अँग्रेजी कवि) हमें अपूर्व वस्तु दे गये हैं। किन्तु यदि सिर कट जाता है अथवा

हृदय पर घोर चोट लग जाती है, तो मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। हस्त-हीन, श्रवणेंद्रिय-हीन, पाद-रहित, चक्षु-रहित मनुष्य भी पैदा हो सकते हैं। पर हमने यह नहीं सुना है कि बिलकुल शिर-हीन, वक्षस्थल-हीन कोई पैदा हुआ हो। वह असम्भव है। इससे यह साबित होता है कि जीव-धारण के लिए कुछ इन्द्रिय अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और शेष इन्द्रिय कम महत्त्व की हैं, यद्यपि परिपूर्णता के लिए सभी इन्द्रियों का होना आवश्यक है। इसी प्रकार भाव वा अनुभूति सिर या हृदय के समान प्रधान है और अभिव्यक्ति इतर इन्द्रियों की भाँति तुलनात्मक दृष्टि से कम महत्ता की है।

प्रभावोत्पादन के लिए, रोचकता उत्पन्न करने के लिए अलंकारादि पोषक, उपकारक उपकरण हैं। लेकिन औषध को भी यदि हम आवश्यकता से ज्यादा लेंगे तो वह विषप्राय हो जाती है। इतिमिति का परिज्ञान आवश्यक है। मितामितविवेक अर्थात् किसी चीज का मितोपयोग मात्र अपेक्षित है।

रामचरितमानस और रामचन्द्रिका का उन्नत उदाहरण हमारे सामने है। भाव-दारिद्र्य तथा अलंकार-बाहुल्य के कारण रामचन्द्रिका निष्प्रभ हो गई, जब रामचरितमानस भावोत्कर्ष एवं अभिव्यक्ति-उपकरणों में हितमित प्रयोग से सर्वोत्तम काव्य-कृति बन गया। टोपी सिर के लिए है, न कि सिर ही टोपी के लिए। टोपी का आकार-प्रकार सिर के अनुसार होना चाहिए। अभिव्यक्ति भावानुगामिनी होनी चाहिये, न कि भाव ही अभिव्यक्ति का अनुचर। तभी उच्च कोटि की काव्य-सिद्धि होगी।

—श्री केशव अभ्यंकर

टिप्पणी-५

कृष्ण-भक्त कवि केवलरामजी की 'ज्ञानदीपक' कृति

कृष्णभक्त कवि केवलरामजी का जन्म डेरागाजीखां के प्रदेश में संवत् १६७४ चैत्र शुक्ल एकादशी बृहस्पतिवार को हुआ था। इनके पिता का नाम गोस्वामी मथुरानाथ जी था जो कि पुष्टिमार्गीय अष्टम् पीठाधीश श्रीगोस्वामी लालदासजी के पुत्र थे। गोस्वामी लालदास जी ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के आदेश से, सिंधु प्रदेश में वल्लभ सम्प्रदाय के पुष्टि मार्ग का प्रचार करने के लिए वाल्लभ सम्प्रदाय की आठवीं शाखा के पीठ की स्थापना डेरा गाजीखां में की थी। कृष्ण भक्त कवि केवलराम इसी वल्लभ सम्प्रदाय की परंपरा के गोस्वामी हैं।

श्री केवलरामजी केवल मात्र गोस्वामी जी ही नहीं, परम साहित्यिक प्रतिभा वान पुरुष थे। स्नेह-सागर, रत्नसागर, लीला पद्र-संग्रह, ज्ञानदीपक, लालपचीसी, लालशतक, आदि कृतियों के रूप में विपुल साहित्य की रचना उनके द्वारा हुई है। आज से सवा तीनसौ वर्ष पूर्व सुदूर पश्चिमोत्तर प्रदेश में जहाँ कि आंचलिक भाषा पश्तो थी, यह कृष्ण भक्ति साहित्य व्रजभाषा में रचा गया था। फलतः कृष्ण भक्ति के साथ साथ हिन्दी भाषा के प्रचार और प्रसार में इस साहित्य का कितना महत्त्व पूर्ण योगदान रहा होगा, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

'ज्ञानदीपक कृति' कृष्ण भक्त कवि श्री केवलरामजी की महत्त्वपूर्ण रचना है। जनसामान्य को हरिभक्ति का उपदेश देने के लिए कवि ने इस ग्रन्थ का प्रतिपादन किया है। जनसाधारण हरि भक्ति के सच्चे रूप को पहचान सके, उस विधिको जान सके जिससे की प्रभु प्राप्त किये जा सकते हैं, इसी मूल चेतना को लेकर कवि का यह ग्रन्थ चला है। ग्रंथ के सम्बन्ध में स्वंय कवि का कथन है कि जो इसको कहता सुनता है, हृदय में धारण करता है वह पूर्णपद को प्राप्त करता है। संसार से तर जाता है। उसके हृदय में बहुत आनंद होता है। अपने जीवन के सच्चे कल्याण मार्ग को पूर्ण रूप से पहिचान कर उसके हृदय में हरिभजन का दृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है। सकल भक्ति और नीति को वह जान लेता है। उसकी देह आत्मरूप बन जाती है। हरि भक्ति के उत्तम भेद को जान कर उसके हृदय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। जिसका श्रवण सकल कल्याण का जनक है। जिससे शरीर में यम का वास नहीं रहता उसी हरि कथा और हरि की महिमा को कवि ने

प्रगट किया है। जिस विधि से प्रभु प्राप्त किए जा सकते हैं, जो उनके निज संत जनों की चाल है, वही 'ज्ञानदीपक' के सुनने से हृदय में उत्पन्न होती है:—

ऐंसा दीपक ज्ञान का लेवों प्रगट सुनाइ।
कहे सुने रिद मों धरे सौ पूरण पद पाइ।।
तर जावे संसार मों हरि उपजे बहुन्यास।
पूरण हेतू पछानि हृदि द्रिढ़ हरिभजन विश्वास।।
भक्ति नीति जाने सकल पावे आतम देह।
रहे नहीं सन्देह मों पावे उत्तम भेह।।
पाप रहे न देह मों सुनत सकल कल्याण।
सो हरि जस हरि कथा ते कीना प्रगट बखान।।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से 'ज्ञानदीपक' की साखियों में आध्यात्मिक और नैतिक विषयों का वर्णन है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इसमें ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, के विपय का प्रतिपादन है। नैतिक दृष्टि कोण से इसमें हरि भक्ति की साधना के आदर्श के अन्तर्गत सरल सात्विक जीवन यापन करने का उपदेश प्रदान किया गया है। ग्रन्थ के वर्ण्य विषय को देखते हुए निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि कवि ने अपने इसमें ग्रन्थ में ईश्वर के सगुण रूप की महत्ता को स्वीकार किया है। हरि लीला की महिमा का वर्णन किया है। ज्ञान और योग से भक्ति को श्रेष्ठता प्रदान की है। हरि भक्ति की साधना के लिए नवधा और दसवीं प्रेम लक्षणा भक्ति को आवश्यक बतलाया है। दान पुण्य, तीर्थाटन व्रत, शास्त्र आदि की महमा को प्रगट किया है। काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, परिग्रह आदि बुरी वृत्तियों से मानव मन को दूर रहने का उपदेश दिया है। करुणा, त्याग, क्षमा, दया आदि शुभ वृत्तियों को अंगीकार करने की प्रेरणा दी है। इसमें सन्देह नहीं कि कवि ने अपने इस ग्रन्थ में अपनी सम्प्रदाय की ही सैद्धांतिक मान्यताओं को प्रश्रय दिया है। फिर भी उसका यह सैद्धांतिक स्वरूप दर्शन की जटिलता और सूक्ष्मता को लिए हुए नहीं है। उसमें एक प्रकार से धर्म, भक्ति दर्शन और ज्ञान की शास्त्रीय जटिलताओं की सुलझा कर उसे सरल और जीवन मय रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है, जिससे कि समाज का वह वर्ग जिसकी पहुँच शास्त्रीयज्ञान तक नहीं है, इससे अन्तर्प्रेरणा ले सके।

साहित्यिक दृष्टि से देखें तो कवि की इस कृति में धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान है, काव्यगत दृष्टिकोण गौण। 'ज्ञानदीपक' में कवि की यह साहित्यिक चेतना उसके धार्मिक दृष्टिकोण की अनुचरी बनकर चली है। काव्य यहाँ साधन है, साध्य नहीं। कवि की यह रचना उसके द्वारा मान्य सिद्धान्तों का सारस्वरूप है। काव्य कला के माध्यम से उसने अपने विचारों और सिद्धान्तों को मूर्त्त रूप प्रदान किया है। इस रूप में ज्ञानदीपक कृति की भावभूमि बड़ी सशक्त और दृढ़ है। उसमें एक संत कवि की आत्मा का तेज और जन जीवन का सत्य है। साहित्य का मूल प्रयोजन ही वस्तुत: मानव भावनाओं को परिष्कृत करना, उसे पशुस्तर से ऊपर उठाना है। इसी रूप में साहित्य मानवता का पथ-

प्रदर्शक है। कहना न होगा कि साहित्य की इसी मूल चेतना से कवि की यह कृति अनुप्राणित है। उसमें साहित्य के कलात्मक माध्यम द्वारा करुणा, क्षमा, त्याग, दया आदि उदात्त वृत्तियों का ज्वलंत संदेश है। उसमें लोकहित और मानव कल्याण का भव्य आदर्श है।

ज्ञानदीपक कृति में कवि का धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान होने का कारण उसका कलात्मक पक्ष नहीं उभरने पाया। किसी भी काव्य का कलात्मक पक्ष बहुत कुछ उसके वर्ण्य विषय पर निर्भर होता है। 'ज्ञानदीपक' कृति का वर्ण्य विषय ही ऐसा है कि उसमें काव्य के कलात्मक सौन्दर्य को प्रगट करने की अधिक संभावना ही नहीं है। 'ज्ञानदीपक' की रचना जन सामान्य के लिए हुई है। उसमें नीति और धर्म का उपदेश दिया गया है। इसीलिए कवि ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का प्रदर्शन उसमें नहीं किया। सीधी सादी शैली और सीधेसादे शब्दों में अपने हृदय की वाणी को मूर्त्तिमान बनाया है। रीति-कालीन कवियों की भाँति दिमागी कसरत करते हुए कला की सूक्ष्म मीनाकारी उसने अपने इस ग्रंथ में प्रगट नहीं की। अलंकारों की चमक-दमक, भाषा की तड़क-भड़क और छंदों के विविध रुप रंग द्वारा उसने अपनी कविता कामिनी के बनाव शृंगार का प्रयत्न नहीं किया। उसका सीधा सादा दृष्टिकोण बस कविता के माध्यम से धार्मिक उपदेश प्रदान करना रहा है। कबीर, दादू, रैदास आदि संत कवियों ने भी इसी प्रकार की रचना की हैं। उन सब की रचनाओं में धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान है, साहित्यिक दृष्टिकोण गौण। फिर भी इन कवियों के साहित्य का बहुत मूल्य है। उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। ज्ञानदीपक के रूप में केवलरामजी का यह साहित्य भी उसी श्रेणी में आता हैं और इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि कला के सौन्दर्य रस से अधिक परिवेष्ठित न होने पर भी उसका मूल्य हमारे लिए बहुत है।

साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग वस्तुत: कवि की अनुभूति की सचाई से सम्बन्ध रखता है। केवलरामजी का काव्य इसी सच्चाई से अनुप्रेरित है। कवि ने अपने चारों तरफ जैसा देखा जैसा अनुभव किया उसी को जनजीवन से ग्रहण की गई उपमाओं उत्प्रेक्षाओं, दृष्टांतों द्वारा काव्य का रूप प्रदान किया। जीवन के सामान्य तथ्यों को काव्य का ऐसा रूप प्रदान करने में कवि जैसे सिद्ध हस्त हैं। जीवन में गहरी पैंठ होने के कारण उसके काव्य की प्रत्येक पंक्ति अनुभव की दीप्ति से प्रकाश मान है।

कलात्मक सौन्दर्य की ही बात करें तों ज्ञानदीपक कृति अपने आँचल में कला की कुछ पूंजी सो सहेज कर चली ही है, चाहे उसकी मात्रा अल्प ही हो। काँता के मधुर वचनों की भाँति इसमें नीति और धर्म के शुष्क विषयों को सरसता का रूप प्रदान किया गया है।

भाव व्यंजना की दृष्टि से ज्ञानदीपक कृति न तो तुलसी के मानस की भाँति विषय प्रधान काव्य है, जिसमें कि मानव जीवन की नाना विधि परिस्थितियों, प्रसंगों, घटनाओं का रसात्मक चित्रण किया जा सके। भावों और विचारों की विराट रंगस्थली प्रस्तुत की जा सके। सूर की भाँति वह व्यक्ति निष्ठ या विषयी प्रधान मुक्तक काव्य भी नहीं है, जिसमें हृदय की गहन अनुभूतियों का तीव्र और मार्मिक प्रकाशन हो। ज्ञानदीपक

कृति इससे भिन्न विषय प्रधान मुक्तक रचना है। मुक्तक शैली को अपनाते हुए भी कवि ने न तो अपनी इस काव्य रचना में अपनी ही परिस्थितियों से उत्पन्न वैयक्तिक अनुभूतियों का चित्रण किया है और न दूसरों की परिस्थितियों में अपने को आत्मसात कर उसके जीवन के क्षणों को अपना बनाकर कव्यकला के सांचे में ढाला है। उसने तो एक नीतिकार और उपदेशक की भाँति हरिभक्ति साधना के विषय को काव्य के माध्यम से हमारे सामने रखा है। इस साधना के लिए मानव जीवन का कैसा स्वरूप होना चाहिए, इसी की प्रेरणा कवि ने हमें प्रदान की है। अतः भावव्यंजना की दृष्टि से ज्ञानदीपक का काव्य रसात्मक नहीं होने पाया। उसमें वह हृदय द्रावक शक्ति नहीं, जो पाठकों के हृदय को द्रवित कर सके। इसलिए विशुद्ध काव्य की दृष्टि से ज्ञानदीपक का कवि काव्य के सामान्य स्तर से अधिक ऊँचा नहीं उठने पाया। मुक्तक शैली में उसकी विषय प्रधान भावव्यंजना केवल तथ्य वर्णन या नीति कथन मात्र बनकर रह गई है। विषय प्रधान होते हुए भी भावव्यंजना का क्षेत्र विस्तृत नहीं है। उसमें मानव जीवन के नाना विधि प्रसंगों और परिस्थितियों का चित्रण नहीं है। उसके एक ही प्रकार के विषय को, एक ही प्रकार के भावों और विचारों को, एक ही प्रकार की शैली में व्यक्त किया गया है। इसीलिए ज्ञानदीपक कृति में एक रसता है।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं की ज्ञानदीपक का काव्य सर्वथा संवेदन शीलता और भावुकता से रहित है तथा उसकी भाव व्यंजना काव्य की उच्च मनोभूमि को कहीं स्पर्श ही नहीं करती। उन स्थलों पर जहाँ कवि ने हरि भक्ति के आवेश में डूबी हुई अपनी भक्त आत्मा के स्पंदन को, उसके रुदन और हासि को अपने हृदय का स्वर दिया है; वहाँ इस भक्त कवि का काव्य बहुत ऊंचा उठ गया है। 'ज्ञानदीपक' कृति में दीनता के अङ्ग बर्णन में आत्म निवेदन से पूर्ण उसका जो काव्य है वह निश्चय ही भाव सौंदर्य की अतुल राशि से सज्जित है।

आत्मनिवेदन के भाव को प्रगट करते हुए श्री केवलरामजी कहते हे कि हे करुणामय श्री राम तुम केवल कीट की विनती सुनो। केवल जन के सफल मनोरथों का तुम्हीं पूर्ण करने वाले हो। हे रामजी तुम्हारे बिना मेरा और कोई सहायक नहीं है। न जाने कब तुम्हारी सहाय मेरे लिए होगी। मैं तो बड़ा ढीट अज्ञानी और मन्दमति हूँ, फिर भी तुम्हारा नाम सिर पर धारण किए हुए हूँ। अब हे राम केवल जन की लाज तुम्हारे ही हाथों में है। जब तक इस शरीर में प्राण हैं तब तक में तुम्हारे द्वार को नहीं तजूगां। हे प्रभु मुझे अपना बनाकर अपनी शरण दीजिए। मुझे न तो स्वर्ग चाहिए और न मुक्ति ही। नरक का डर भी मुझे नहीं है। मैं तो तुम्हारी शरण का ही याचक हूँ:—

सुनहु वेनती कीट की करुणामय श्री राम।
केवल जन के करत्त हो सफल मनोरथ काम॥
जब कब मेरी होयगी तुमते सकल सहाय।
केवल तुम बिन रामजी और ओट नहीं काय॥

ढीठि अज्ञानी मंदमति नाम तुम्हारो सीस ।
केवल जन की लाज है इस भव तुम जगदीस ।।
द्वार तुम्हारो न तजूं जव लग पिंजर प्रान ।
केवल जन अपना करो राख लेहो भगवान ।।
स्वर्ग मुक्ति मांगू नहीं नहीं नरक डर मोह ।
केवल जन अपना करो येही जांचू तोह ।।

आत्म निवेदन के इन दोहों में अपने इष्ट के प्रति अनन्य भक्ति का धार्मिक स्वर है । भगवान के प्रति आत्म समपर्ण की कातर व्यंजना है । ये दोहे आत्मग्लानि, पश्चाताप और संसार के प्रति वैराग्य भावना से ओत प्रोत हैं । उसमें आराध्य की समर्थ भक्त वत्सलता और अपने अधम जीवन का उद्घाटन है । एक निष्कपट भक्त हृदय के स्वच्छ और सरल उद्गार हैं ।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है ज्ञानदीपक की भाषा व्रजभाषा है । व्रजभाषा व्याकरण के सभी प्रमुख लक्षण हमें ज्ञानदीपक की भाषा में मिलते हैं । इतना अवश्य है कि ज्ञानदीपक की भाषा का रूप परिनिष्ठित और शुद्ध व्रजभाषा नहीं है । उस पर खड़ी बोली, अवधी, राजस्थानी, पंजाबी, मुलतानी आदि भाषाओं और उनके व्याकरणिक रूपों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । समग्ररूप से ज्ञानदीपक की भाषा धर्म प्रचार की भाषा है । उसका रूप व्यावहारिक है । व्रजभाषा का साहित्यिक स्वरूप उसमें तनिक भी नहीं है । ठेठ व्रजभाषा के शब्दों को उसमें कहीं भी ग्रहण नहीं किया गया है । वस्तुत सिंध, पंजाब, अफगानिस्तान के सुदूर पश्चिमोत्तर प्रदेशों के रूप में ज्ञानदीपक का जो भाषा क्षेत्र था वह व्रजभाषा का मातृभाषी क्षेत्र नहीं था । वहाँ की मातृभाषा पश्तो, मुलतानी, पंजाबी, सिंधी थी । व्रजभाषा का प्रयोग इन क्षेत्रों में उसी प्रकार होता था जिस प्रकार आज राष्ट्रभाषा हिन्दी के रूप में खड़ी बोली का प्रयोग अपने मूल प्रदेश के बाहर अन्य प्रान्तीय भाषाओं के क्षेत्र में होता है । अपने मूल प्रदेश में खड़ी बोली हिन्दी का जो रूप है, वह अन्य प्रान्तीय भाषाओं के क्षेत्र में कुछ भिन्नता लिए हुए है । वास्तव में राष्ट्रभाषा बनने के पश्चात आज खड़ी बोली हिन्दी के दो रूप है, पहिला तो अपने क्षेत्र की भाषा के रूप में, जहाँ की वह मातृभाषा है, उसका साहित्यिक रूप । दूसरे अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में जहाँ वह भिन्न भाषा भाषी प्रान्तों के परस्पर विनिमय का साधन है, उसका व्यावहारिक रूप । फलत आज भी यदि कोई राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से भिन्न भाषा भाषी क्षेत्रों में अपने विचारों का प्रतिपादन करना चाहे तो उसे हिन्दी के व्यावहारिक और सर्वमान्य रूप को अपनाना होगा । अपने प्रदेश में व्यवहृत खड़ी बोली का जो ठेठ रूप है, उसे अपनाकर वह अन्य भाषा-भाषी क्षेत्रों के लिए अपरिचित ही बना रहेगा । जो बात आज खड़ी बोली हिन्दी के लिए सत्य है वही, बात आज से तीन सौ वर्ष पूर्व की व्रजभाषा के लिए सत्य थी । व्रजभाषा उस समय आज की खड़ी बोली की भाँति राष्ट्रभाषा थी । अन्य भाषा-भाषी क्षेत्रों के परस्पर विचार विनिमय का साधन थी । राष्ट्रभाषा का उत्तरदायित्व वहन करते हुए उसके

भी दो रूप थे—मूल प्रदेश की भाषा के रूप में उसका साहित्यक रूप, सर्वमान्य राष्ट्रभाषा के रूप में उसका व्यावहारिक रूप। उस समय के धर्म प्रचारकों, संतों और साधुओं ने अपने मत का प्रचार करने के लिए ब्रजभाषा के इसी सर्वमान्य रूप को अपनाया। साहित्यिकता के स्थान पर उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया। श्री केवलरामजी ने भी भाषा की दृष्टि से अपने ज्ञानदीपक में यही मार्ग अपनाया है। अन्य भाषा-भाषी क्षेत्रों में धर्म प्रचार का माध्यम होने से उनकी ब्रजभाषा शुद्ध परिष्कृत और साहित्यिक नहीं है। साहित्यिक दृष्टि से उसका मूल्यांकन भी उचित नहीं है। उसका सबसे बड़ा महत्त्व तो इस बात में है कि ब्रजभाषा बोली के रूप में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार और प्रसार उसके द्वारा हुआ। हिन्दी के इस ऐतिहासिक महत्व को उसने हमारे सामने रखा कि अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में हिन्दी का राष्ट्रभाषा होना आज की कोई नवीन बात नहीं है अपितु सदियों पूर्व से सर्वमान्य भाषा के रूप में उसका व्यवहार होता आया है। वह सदैव ही राष्ट्रभाषा के गौरवपूर्ण पद पर अभिषिक्त रही है। ज्ञानदीपक की भाषा के आधार पर हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि आज से तीन सौ वर्ष पूर्व खड़ी बोली के स्थान पर ब्रजभाषा का व्यवहार राष्ट्रभाषा के रूप में होता था। इस भाषा पर खड़ी बोली का स्पष्ट प्रभाव था। ठेठ ब्रजभाषा के शब्दों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम और उसके तद्भव शब्दों का व्यवहार किया जाता था तथा जिस भाषा के क्षेत्र में उसका व्यवहार किया जाता था उस भाषा के शब्द भी उसमें ग्रहण किये जाते थे।

कृष्ण भक्ति काव्य परम्परा में 'ज्ञानदीपक' कृति का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें संदेह नहीं कि मध्ययुगीन साधना जगत में पुष्टि मार्ग के प्रतिपादन द्वारा बल्लभाचार्य जी ने जिस कृष्ण भक्ति का प्रणयन किया उसका बहुत ही स्पष्ट स्वर श्री केवल राम जी के साहित्य में मुखरित हुआ है। इस हरि भक्त और संतजन ने कृष्ण भक्ति के सच्चे मर्म को पहिचाना और कृष्ण के प्रति अपने हृदय के भक्ति परक भावों को काव्य का सरस आवरण दिया। इस प्रकार केवल राम जी भी सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददासजी आदि वल्लभ संप्रदाय के कवियों की परंपरा में आते हैं। अपने साहित्य में उन्हेंने भी सूर और नन्ददास आदि भक्त कवियों के आदर्श को अपनाया है। रत्नसागर, तथा स्फुट लीला पदों की रचना द्वारा उन्होंने कृष्ण भक्त कवियों की भांति कृष्णा की लीलाओं का गान किया है। कृष्ण भक्ति के माधुर्यभाव से उन्होंने अपने काव्य को संजोया है। अपनी ज्ञानदीपक कृति की रचना विधान भी उन्होंने हरजस वर्णन के लिए किया है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में हमें कृष्ण भक्ति साहित्य का जो स्वरूप दृष्टिगत होता है वह सर्वथा वैयक्तिक साधना के आदर्श को लेकर चला है। सूर, नन्ददास आदि कृष्ण भक्त कवियों ने लोक जीवन से तटस्थ होकर अपने काव्य का सृजन किया है। जनसाधारण में क्या हो रहा है, इसकी उन्हें चिंता न थी। उन्हें अपने इष्टदेव की लीलाओं से ही प्रयोजन था। उन्हीं लीलाओं की अनुभूति का आनन्द उनके जीवन और उनके काव्य का चरम आदर्श था। इसलिए कृष्ण की लीलाओं का गान उन्होंने किया।

उनकी समस्त चेतना श्रीकृष्ण के माधुर्य भाव में समा गई। भक्ति के क्षेत्र में वे इतने आगे पहुँच गए कि सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान ही नहीं रहा। इसीलिए कबीर की भाँति सुधारक बनकर जनसमाज को उन्होंने उपदेश नहीं दिए और न किसी मत या सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। तुलसी की भाँति लोकनायकत्व का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व वहन करते हुए उन्होंने लोक धर्म की भी प्रतिष्ठापना न की। उन्होंने कृष्ण भक्ति में आत्मविभोर बन कृष्ण के प्रति अपने अनन्य प्रेम की पुनीत मंदाकिनी वैयक्तिक साधना के रूप में प्रवाहित की।

परन्तु केवल राम की कृति ज्ञानदीपक' कृष्ण भक्ति के आदर्श से सज्जित होकर भी कृष्ण भक्ति कवियों की वैयक्तिक साधना के आदर्श को लेकर नहीं चली। कृष्ण भक्त कवियों की साहित्यिक परंपरा में वह अपवाद स्वरूप ही है। उसमें भिन्न दृष्टकोण और भिन्न आदर्श को अपनाया गया है और यह भिन्न दृष्टि कोण तथा भिन्न आदर्श है शास्त्रीय मर्यादा के अनुकूल हरि भक्ति के सहज रूप को लोक मानस में प्रतिष्ठित करना। इसीलिए कवि ने अपनी इस कृति में सूर आदि कवियों की भांति लीला पदों की रचना नहीं की। वात्सल्य और दाम्पत्य के मधुर गीत नहीं गाए। प्रेम और शृंगार के मधुर भावों को स्पर्श नहीं किया। यह कार्य तो वह अपनी अन्य कृतियों में संपादित कर चुका था। ज्ञानदीपक में वह अपनी काव्य साधना का दूसरा आदर्श लेकर चला है। 'ज्ञानदीपक' का रचना विधान उसने जनसाधारण में हरिभक्ति का प्रचार और प्रसार करने के लिए किया है। जनसामान्य हरिभक्ति के सच्चे स्वरूप को पहिचान सके, वेद विहित शास्त्रीय मर्यादा के अनुकूल धर्म और भक्ति के सहज स्वरूप को हृदयगंम कर सके, उस विधि को जान सके, जिससे हरि और उनका अनुग्रह प्राप्त किया जा सकता है, इसी मूल चेतना से कवि का यह ग्रन्थ अनुप्रेरित है। कबीर ने जिस प्रकार सुधारक का रूप लेकर अपनी साखियों द्वारा ज्ञान का उपदेश प्रदान किया वही आदर्श केवल राम जी ने अपने ज्ञानदीपक में अपनाया है। सन्त कवियों की भांति ही उसने साखियों की रचना की है और उन्हें विविध अंगों का स्वरूप प्रदान किया है। इस प्रकार सन्त काव्य की परंपरा शैली मे केवल रामजी ने ज्ञानदीपक कृति की रचना की।

दोहों और साखियों के माध्यम से जनसाधारण को नीति और ज्ञान का उपदेश देना सन्त साहित्य की परंपरा रही है। कबीर, रैदास, सुन्दरदास आदि सन्त कवियों ने इसी परंपरा को अपनाया है। हिन्दी की भक्ति काल की अन्य किसी धारा में यह परंपरा प्राप्त नहीं होती। कृष्ण भक्ति साहित्य तो इससे नितांत अछूता है। केवल राम जी ने कृष्ण भक्ति साहित्य में सन्तसाहित्य की इसी साहित्यिक परंपरा का उद्घाटन किया है। उन्होंने कृष्ण भक्ति के आदर्श को अपनी वैयक्तिक साधना तक ही सीमित नहीं रहने दिया अपितु उसे लोक मानस का आधार बनाया। कृष्ण भक्ति साहित्य के लिए यह एक सर्वथा नवीन बात है। इस रूप में अपनी 'ज्ञानदीपक' कृति द्वारा कृष्ण भक्त कवि केवल राम जी ने कृष्ण भक्ति साहित्य पर लगे हुए इस कलंक को जैसे धो दिया है कि लोक जीवन से उदासीन व्यक्तिपरक साहित्य के रूप में यह साहित्य केवल मात्र हरि-

लीला गान तक ही सीमित रहा। लोक जीवन के परिष्कार का आदर्श उसमें गृहीत नहीं हुआ।

श्री केवलरामजी ने कृष्ण भक्ति साहित्य की परम्परा से भिन्न सन्तसाहित्य की ही शैली को क्यों अपनाया, यह प्रश्न भी विचारणीय है। श्री केवलराम जी केवल कवि ही नहीं थे अपने सम्प्रदाय के पीठाधीश भी थे। सहस्त्रों और लाखों की संख्या में उनका शिष्य वर्ग था। उन्होंने देश के अनेक प्रान्तों में भ्रमण किया था। अपने सम्प्रदाय के प्रचार और प्रसार में उनके जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत हुआ था। जन समाज में अपने सम्प्रदाय के मान्य सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए यह आवश्यक था कि नीति और धर्म का उपदेश प्रदान करने की उसी परम्परा को अपनाया जाय जो पहले से ही जन-साधारण में प्रचलित हो। जिसके द्वारा नीति और धर्म की, भक्ति और ज्ञान की दुर्बोध और शुष्क बातें भी सरल सहज रूप में लोक मस्तिष्क के लिए के लिए बोधगम्य बन सकें। जिस क्षेत्र में केवल रामजी ने हरिभक्ति का प्रचार किया था वहां पहले से ही सन्त कवियों की वाणी, दोहों और साखियों के रूप में नीति और धर्म का उपदेश जनसामान्य को दे चुकी थी। इस प्रकार केवलराम जी से पूर्व दोहों या सखियों के रूप में सन्तों की उपदेश प्रणाली जनसाधारण में प्रचलित थी। इस प्रणाली को केवलराम जी ने अपने भक्ति सम्प्रदाय के प्रचार और प्रसार के लिए अपनाया। हरि भक्ति का प्रचार उन्होंने अपने शिष्य वर्ग में उसी प्रकार किया जैसे कबीर आदि सन्त कवि अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन किया करते थे। भाषा भी ज्ञानदीपक की सन्त कवियों जैसी है। यद्यपि वह व्रजभाषा है फिर भी कवि की अन्य रचनाओं में हमें व्रजभाषा का जैसा प्रौढ़ परिष्कृत और साहित्यक रूप देखने को मिलता है, वैसा भाषा का रूप ज्ञानदीपक में नहीं दिखलाई पड़ता। ज्ञानदीपक की भाषा पर अन्य बोलियों का स्पष्ट प्रभाव है। ज्ञानदीपक में सुरति, निरति, परचा, गलतान, आतमरति, आतमध्यान, सहज, आदि-मध्य-अन्त, आदि ऐसी शब्दावली मिलती है, जिसका व्यवहार सन्त कवियों की रचना में ही होता है। वस्तुतः ज्ञानदीपक को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इसका रचयिता कोई सन्त कवि है भक्त कवि नहीं। पर बात यथार्थ ऐसी नहीं है। इतना सब कुछ होते हुए भी हम केवलराम जी को सन्त कवियों की श्रेणी में नहीं रख सकते। वे मूलतः भक्त कवि हैं। कृष्ण ही उनके इष्टदेव हैं और वल्लभ सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित भक्ति साधना का मार्ग ही उन्हें इष्ट है। अपने कवि व्यक्तित्व को उन्होंने इसी भक्ति में घुला मिला दिया है। हरि भक्ति से वह कहीं विलग नहीं हुआ। इसी लिए सन्त कवियों के साहित्यिक आदर्श को अपनाते हुए भी उन्होंने ज्ञानदीपक में कृष्ण भक्ति की मूल चेतना को कहीं नहीं तजा। सन्त कवियों की मान्यताओं को न अपनाकर उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय में मान्य कृष्ण भक्ति साधना के सिद्धांतों को ही काव्य का रूप प्रदान किया। सन्त कवियों ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना की है। केवलरामजी ने सगुणोपासना का आदर्श अपनाया है। सन्त कवियों ने व्रत, कथा, तीर्थाटन, मूर्ति पूजा आदि उपासना के बाह्य आचारों की निन्दा की है, केवलराम जी ने इनकी महिमा को प्रगट करते हुए इन्हें आवश्यक बतलाया है। वल्लभ सम्प्रदाय में नवधा भक्ति, और दसवीं प्रेमलक्षण

भक्ति का बड़ा महत्त्व है। इस महत्त्व को ज्ञानदीपक में व्यापक रूप से प्रगट किया गया है। सन्त कवियों के साहित्य में यह बात नहीं है। इस प्रकार केवलराम जी 'ज्ञानदीपक' में सन्त कवि नहीं हैं कृष्ण भक्त कवि है। सत्य तो यह है कि 'ज्ञानदीपक' की आत्मा कृष्णभक्ति काव्य के साधना रस से और उसका शरीर सन्त साहित्य के आदर्श से निर्मित है। 'ज्ञानदीपक' में कवि जैसे कृष्णभक्ति साहित्य और सन्त साहित्य के आदर्शों के संगम पर खड़ा है। इसी दृष्टि से 'ज्ञानदीपक' का, कृष्ण भक्ति काव्य परम्परा में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। समूचे कृष्ण भक्ति साहित्य में ज्ञानदीपक ही ऐसी अभूतपूर्व रचना है जो एक नए दृष्टि कोण और नए आदर्श को लेकर चली है।

—श्री रमेशचन्द्र जैन

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

मसूरी
MUSSOORIE

अवाप्ति सं०
Acc. No...............................

कृपया इस पुस्तक को निम्नलिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

GL H 891.405
BHA

891.405
भारती
3; 4

अवाप्ति सं० 20311
ACC. No..................

वर्ग सं.
Class No................

पुस्तक सं.
Book No..............

लेखक
Author...

शीर्षक भारतीय साहित्य ।
Title...

निर्गम दिनांक Date of Issue	उधारकर्ता की सं. Borrower's No.	हस्ताक्षर Signature
....	....	

891.405 LIBRARY 20311
भारती L BAHADUR SHASTRI
National Academy of Administration
3;4 MUSSOORIE

Accession No. ____________

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way